जरा सोचिए!

संस्करण १९९८

मूल्य : १०.००

पद्मचन्द शास्त्री

वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२
दूरभाष : ३२५०५२२

सही दिशा

धर्म का अर्थ कर्तव्य है। समाज मे सभी व्यक्ति साधु–आर्यिका, श्रावक–श्राविका सभी इन कर्तव्यो से बधे हुए है। आधुनिकता की दौड़ मे आज कर्तव्यो के प्रति असावधानी आ गयी है। उदाहरणार्थ सड़क पर अपने बाए चलने का नियम है। यदि हम इस नियम के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख हो जाए और बाए के बजाए वाहन दाए चलाए तो निश्चित रूप से दुर्घटना होगी और समस्त व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जाएगी। इसी प्रकार हम अपने कर्तव्यो के प्रति असावधानी बरतेगे तो समाज की व्यवस्था भी छिन्न–भिन्न हो जाएगी।

आज हमारे समाज मे नियमो और कर्तव्यो के प्रति सावधानी नही बरती जाती है। परिणामत आज समाज के हर वर्ग मे मन–मर्जी से कार्य हो रहा है और अपनी प्रतिभा, विद्वता के अहकार मे नियमो को भुला दिया गया है। हम वही करते है जो हमे अनुकूल पडता है, भले ही हमारा वह कार्य नियमो के प्रति कितना ही प्रतिकूल क्यो न हो?

वीर सेवा मन्दिर की स्थापना का मुख्य उद्देश्य रहा है कि आगम विरुद्ध कार्य को उसके सही रूप मे प्रस्तुत कराया जाए। युगवीर आचार्य जुगल किशोर मुख्तियार जी ने सदैव ही विसगतियो का खुलकर विरोध किया और समाज को सही दिशा दिखायी।

वर्तमान मे वीर सेवा मन्दिर के विद्वान पण्डित पद्मचन्द शास्त्री का ध्यान भी इस ओर गया। उन्होंने गत वर्षों में अपनी लेखनी के माध्यम से "अनेकान्त" में समय-समय पर अपने सुझाव समाज के सामने प्रस्तुत किए और सभी को सोचने पर विवश कर दिया। उनके ऐसे लेखों को पुस्तक का रूप दिया जा रहा है। हमे आशा है कि समाज के सभी व्यक्ति इसका पूरा लाभ उठाएगे और समाज मे व्याप्त बुराइयों को समझ कर उनका निराकरण कर सकेगे।

पुस्तक प्रकाशन मे जिनराज पेपर उद्योग दिल्ली, श्री रूपचन्द कटारिया दिल्ली व श्री राजकृष्ण जैन चैरीटेबिल-ट्रस्ट नयी दिल्ली ने आर्थिक सहयोग दिया है। हम उनके आभारी है, साथ ही पण्डित पद्मचन्द शास्त्री जी के प्रति कृतज्ञ है कि उन्होने अपने अमूल्य विचारो को प्रस्तुत कर समाज को सही दिशा मे अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया है। सामग्री-सकलन मे डॉ० प्रेमचन्द जैन नजीबाबाद का योग सराहनीय है। पुस्तक का मनन-चिन्तन कर यदि पाठक गण किचित भी लाभ उठा सके तो वीर सेवा मन्दिर अपने प्रयास मे सफल होगा।

१ जुलाई, १९९८

—सुभाष जैन

महासचिव

वीर सेवा मन्दिर

दरियागज, नई दिल्ली

कहां—क्या है?

क्या जैन जिन्दा रह सकेगा?

जैसे चन्द लोग इकट्ठे होते हैं और आकाश गुजाने को जोर से नारा लगाते है–'जैन धर्म की जय।' नारे से आकाश तो गूजता है, पर, क्षण भर मे वह गूज कहा विलीन हो जाती है? इसे सोचिए कहीं वह अस्तित्व रखते हुए भी अरूपी आकाश मे तो नहीं समा जाती। इसी प्रकार आज जैन को ढूढ़ना भी मुश्किल है, वह भी चूर–चूर होकर बिखर चुका है? शायद कही वह भी तो अरूपी आकाश मे नही समा गया? देखिए, जरा गौर से–यदि ज्ञान–दीपक लेकर ढूढ़े तो शायद मिल जाय!

आप किसी मन्दिर मे जाइए वहा आप समवसरण के कीमती से कीमती वैभव को देख सकेंगे, पाषाण–निर्मित प्रतिबिम्बों को देख सकेंगे–वे बिम्ब चाँदी, सोने, हीरे और पन्नो के भी हो सकते है, आप आसानी से देख सकेगे। पर, जैन आपको अपनी आँखो या भावो से कदाचित् ही दिखे।

ऐसे ही किसी त्यागी समाज मे जाकर देखिए, वहा आपको लाल, गेरुआ, पीत, श्वेत या दिगम्बर चोला तो दिखेगा, पर, जिसे आप खोज रहे है वह 'जैन' न मिलेगा। ऐसे ही किसी पण्डित के पास जाइए–उसे सुनिए आपको सिद्धान्त और आगम की लम्बी–चौड़ी व्याख्याएँ मिलेगी, क्रिया–काण्ड मिलेगा पर, 'जैन' के दर्शन वहा भी मुश्किल से हो सकेगे। धन–वैभव मे तो जैन के मिलने का प्रश्न ही नही–जहा लोग आज खोजते है।

आप पूछेगे भला, वह जैन क्या है, जिसे देखने की आप बात कर रहे है? आखिर, उस जैन को कहां देखा जाय? तो सुनिए–

'जैन' आत्मा का निर्मल, स्वाभाविक रूप है, वह सरल–आत्माओ के भावो और आचार–विचारो मे मुखरित होता है। जहा मलीनता, बनावट और दिखावा न हो वहां झलकता है। आप देखे–ये जो कई श्रावक है, पण्डित है, त्यागी और नेता है, इनमे कितने, किस अश मे मलीनता, बनावट और दिखावे से कितनी दूर है? जो इनमे जैन हो। क्या कहे? आज तो

त्याग की परिभाषा भी बदली जैसी दिखती है। त्याग तो जैन बनने का सही मार्ग है और वह मार्ग अन्तरग व बहिरग दोनो प्रकार के परिग्रहो को कृश करने और परिग्रहों के अभाव मे मिलता है। अर्थात् परिग्रह की जिस स्थिति को छोड़कर व्यक्ति घर से चला हो उस स्थिति की अपेक्षा परिग्रह मे हीनता होते जाना त्याग की सच्ची पहिचान है। पर, आज तो परिस्थिति अधिकाश ऐसी है कि—जो पुरुष दीक्षा—नियम से पूर्व किसी झोपडी, साधारण से सुविधारहित कच्चे—पक्के घर मे रहता था वह त्यागी नामकरण होने के बाद सुन्दर, स्वच्छ सुविधायुक्त मकानों, कोठियो, बगलो और यहा तक कि वह बकिघम पैलेस जैसे महलों मे रहने के स्वप्न देखता और वैसे प्रयत्न करता है। जिसे दीक्षा के पूर्व ख्याति, पूजा—प्रतिष्ठा की चाह न थी, वह उत्सवो, कार्यक्रमो आदि के बहाने बड़े—बड़े पोस्टरो मे बड़ी—बड़ी पदवियो सहित अपने नाम—फोटो और वैसी किताबे छपाना चाहता—छपाता है। जिसे दीक्षा पूर्व लोग जानते भी न थे—कोने मे बैठा रहता हो वह दीक्षा के बाद सिहासनारूढ़ होकर सभाओ मे अपने जयकारे चाहता है। जो घर से सीमित परिवार का मोह त्याग, वैराग्य की ओर बढ़ा था वह उपकार के बहाने सीमित की बजाय श्रावक—श्राविका और सेठ—साहूकारो जैसे बडे परिवारो के फेर मे फॅस जाता है, उनके वैभव से घिर जाता है। ये सब तो ग्रहण करने के चिन्ह है और ग्रहण करने मे जैन कहा? जैन तो उत्तरोत्तर त्याग मे है, आकिचन्य मे है। हाँ, सच्चे त्यागी होगे अवश्य—उनको खोजिए, जहा वे हो, जाइए और नमन कीजिए, इसमे आपका भी भला है।

श्रावको की मत पूछिए, वे भी कहॉ, कितने है? होगे बहुत थोड़े कही—किन्ही आकाश प्रदेशो मे, श्रद्धा और विवेकपूर्वक श्रावक की दैनिक षट्क्रियाओ मे लीन। वरना, अधिकॉश जन समुदाय तो इस पद से अछूता ही है—रात्रि—भोजी और मकार—सेवी तक। जिन्हे हम श्रावक माने बैठे है, तथोचित सर्वोच्च जैसे सम्मान आदि तक दे रहे हैं, शायद कदाचित् उनमे कुछ श्रावक हो तो दैनिक षट्क्रियाओ की कसौटी पर कस कर उन्हे देखिए। वरना, वर्तमान वातावरण से तो हम यह ही समझ पाए है कि—इस युग मे पैसा ही श्रावक और पैसा ही प्रमुख है—सब उधर ही दौड़ रहे है।

पण्डित, 'पण्डा' वाला होता है और 'पण्डा' बुद्धि को कहते है–**'पण्डा बुद्धिर्यस्यस: पण्डित:'** अर्थात् जिसमे बुद्धि हो वह पण्डित है। आज कितने नामधारियो मे कैसी बुद्धि है, इसे जिनमार्ग की दृष्टि से सोचिए। जब जिनमार्ग विरागरूप है तब वर्तमान पीढ़ी मे कितने नामधारी, प० प्रवर टोडरमल जी, प० बनारसीदास जी और गुरुवर्य प० गोपालदास जी बरैया, प० गणेशप्रसाद वर्णी जैसे सन्मार्ग–राही और अल्प–सन्तोषी है? जो उक्त परिभाषा मे खरे उतरते हो या जो लौकिक लाभो और भयो की सीमा लाघ–बिना किसी झिझक के सही रूप मे जिनवाणी के अनुसर्ता या उपदेष्टा हो? कडुवा तो लगेगा, पर, आज के त्यागी वर्ग की शिथिलता मे कुछ पण्डितो, कुछ सेठो या श्रावको का कुछ हाथ न हो–ऐसा सर्वथा नही है। कई लोग हॉ मे हॉ करके (भी) मार्ग बिगाडने मे सहयोगी हों तब भी सन्देह नही। कुछ पडितो की अह–पण्डा (बुद्धि) के कारण, उनके सहयोग से मूल आगम–रूप भी बदलाव पर हो तो भी सन्देह नही। हम आगम के पक्षपाती है। हम नही चाहते कि कोई अपनी बुद्धि से आगमो मे परिवर्तन लाए। हम तो पूर्वाचार्यों की चरण–रज–तुल्य भी नही, जो उनकी भाषा मे किन्ही बहानो से परिवर्तन लाऍ–आचार्यों ने किस शब्द को किस भाव मे कहॉ, किस रूप मे रखा है इसे वे ही जाने– इस विषय को आचार्यों की स्व–हस्तलिखित प्रतियो की उपलब्धि पर–सोचा जा सकता है, पहिले नही। जैसा हो, विचारे।

अब रह गये नेता। सो नेताओ की क्या कहे? वे हमारे भी नेता है। गुस्ताखी माफ हो, इसमे हमारा वश नही। नेता शब्द ही ऐसा बहुमुखी है जो चाहे जिधर मोड़ा जा सकता है–नेता अच्छो के भी हो सकते हैं और गिरो के भी–धर्मात्माओ के भी हो सकते हैं। पर, हम यहाँ 'मोक्ष मार्गस्य नेतार' की नही, तो कम से कम जैन समाज और जैन धर्म के नेताओ की बात तो कर ही रहे हैं कि वे (यदि ऐसा करते हो तो) केवल नाम धराने के उद्देश्य से दिखावा न कर जनता को धर्म के मार्ग मे सही रूप मे ले चले और स्वय भी तदनुरूप सही आचरण करे। जिससे जैन

धर्म टिका रह सके। यदि ऐसा होता है तो हम कह सकेंगे–'हाँ, जैन जिन्दा रह सकेगा'। असलियत क्या है? जरा सोचिए!

धर्म संस्थानों का रजिस्ट्रेशन क्या है?

धर्म और धर्म–सस्थाएँ स्वय मे ऐसे केन्द्र हैं जो स्वय ही मानवो का रजिस्ट्रेशन करते हैं–इनके आश्रितो को अन्य किसी लौकिक रजिस्ट्रेशन की आवश्यकता नहीं होती–इनके आश्रित व्यक्ति अपने आचरण से सहज ही मानवता के प्रतीक बन जाते है।

हमे आश्चर्य होता है जब कोई व्यक्ति स्वभावत रजिस्ट्रेशन करने वाले धर्म या धर्म–सस्थान के लौकिक रजिस्ट्रेशन की चर्चा चलाता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति मन मे विविध शकाएँ होती है–कि इसके मन मे अवश्य कोई अनैतिकता का भूत सवार है। या तो यह सस्था के प्रति दूसरे के द्वारा भय–उत्पादन से शकित है या स्वय ही भयावह है, जो लौकिक न्यायालय के सहारे की ताक मे है।

उस दिन एक व्यक्ति मिले। बोले–हमे अपने धार्मिक न्यास का रजिस्ट्रेशन कराना है। मै अवाक् रह गया। थोड़ी देर बाद मैने ही उनसे कहा–धर्म और धर्म–सस्थानो का आत्मा से तादात्म्य सबध है। धर्म तो व्यक्ति का स्वय मे रजिस्ट्रेशन है। धर्म मानवता की रजिस्ट्री करता है। मानव धर्म से तनिक भी च्युत हुआ कि वह पाप कर्म से जकड़ लिया गया इसमे किसी दूसरे न्यायालय की आवश्यकता ही नही पड़ती। जब किसी व्यक्ति के मन मे अनैतिकता का प्रवेश होता है तब धर्म और धर्म सस्थान दोनो ही स्वत विघटित हो जाते है–वे अधर्म का रूप ले लेते है, उनकी रक्षा का प्रश्न ही नही उठता। लोक मे आज हम जिन्हे धार्मिक सस्थान मानने लगे है वे सर्वथा ईट चूने और सीमेट के ढेर और चादी सोने के टुकड़े मात्र है– उनकी रक्षा करके हम धर्म या धार्मिक न्यास की रक्षा नही कर सकते जब कि हम धर्म और मानवता–शून्य हो।

वे बोले—आप तो पुण्य—पाप की बात पर आ गए। मै तो बाह्य—सम्पत्ति के सरक्षण की बात कर रहा हूँ कि भविष्य मे वह सुरक्षित रहे।

मैने कहा—यदि किसी को झगड़ा करना ही हो—और यदि उसकी नीयत खराब हो तो झगड़ा अवश्य करेगा। वह रजिस्ट्रेशन होने पर भी अधिकार कर लेगा और आप बचा न सकेंगे। वहाँ तो कानून मे कानून हैं और साथ मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत भी है। वह अपने पक्ष मे बहुमत सिद्ध करने के लिए अपने सदस्यो का बाहुल्य भी कर सकता है, उन्हे पदो आदि के प्रलोभन भी दे सकता है, जैसी कि मनोवृत्ति आज राजनैतिक पार्टियों मे स्पष्ट ही चल रही है, आदि

पहिले बुजुर्गों ने अनेको सस्थाओ के, भौतिक रजिस्ट्रेशन भी कराए। वे रजिस्ट्रेशन क्या काम आए? लोग कानूनो मे उलझ गए और आज स्थिति यह है कि न वे लोग रहे और ना वे सस्थाएँ ही रही। जो रही भी उनसे कई तो व्यक्तियो के कमाने खाने मे ही सीमित हो गईं। सो यह तो समय का फेर है। जब धर्मी के मन से धर्म निकल जाता है तब रजिस्ट्रेशन आदि सभी यूँ ही धरे रह जाते है। अत धर्म और धार्मिक भावना की कद्र करना ही सबसे बड़ा रजिस्ट्रेशन है—इन वाह्य रजिस्ट्रेशनो मे कुछ नही रखा। बस वे चुप हो गए।

वास्तविकता क्या है? धर्म—सस्थानो की रक्षा मे धर्म भाव मुख्य कारण है या वाह्य—लौकिक रजिस्ट्रेशन? जरा सोचिए!

ऊर्ध्व व मध्यलोक तथ्य है!

'जैनी' जिनदेव का भक्त होता है। वह 'जिन' की वाणी का ज्ञाता और उपदेश का पालक भी होता है। देव—शास्त्र—गुरु तीनो ही रत्न उसके अपने होते है और वह उनकी सभाल करता है। जो लोग कुदेवो की उपासना करते हों, जिन वाणी के रहस्य को न जानते हो और गुरुओ मे नि स्पृहता के दर्शन न करते हो—वे इन रत्नो की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ ही होगे।

आज स्थिति ये है कि अनादि परम्परागत धर्म और त्रिलोक–महल, जिन्हे शताब्दियो तक तीर्थंकर और परम्परागत आचार्य संभालते रहे–सरक्षण देते रहे, अब खण्डहर होने की बाट जोहने लगे है और हम ऐसे निर्मम है जो इनकी ओर कनखियो तक से निहारने को तैयार नही–सर्वथा मुख मोड़े बैठे हैं और कही पर प्रकाशित निम्न पंक्तियो को भी सुख से पढ़ रहे है–

"ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक सबधी वर्णन तो बाद के आचार्यों ने जो छद्मस्थ थे उस समय के इस विषय के विद्वानो की मान्यतानुसार अपने शास्त्रो मे किए है।" "छद्मस्थ आचार्यों द्वारा लिखी बात आधुनिक वैज्ञानिक खोजो से गलत हो जाने से जैन धर्म का कुछ नही बिगड़ता।" "जब हमारे विद्वान् मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक सबधी अपनी शास्त्रीय मान्यताओ को आधुनिक वैज्ञानिक खोजो के मुकाबले मे प्रमाणित करने मे असमर्थ है, तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय व उनकी टीकाओ का पढ़ाना बन्द कर दिया गया है।"

हमारे यहाँ देव–शास्त्र–गुरु को रत्न–सज्ञा दी गई है। इस समय इनमे से वीतराग देव का सर्वथा अभाव है और गुरु भी अगुलियो पर गिनने लायक कुछ ही होगे–अधिकाश में तो लोगो की अश्रद्धा जैसी ही हो चली है। अब तो केवल शास्त्र ही स्थितिकरण के साधन है, जो उक्त प्रकाशनो जैसे साधनो से मिथ्या होने लगेगे। और लोग जो अश्रद्धा के कगार पर खड़े है–गड्ढे मे गिर पड़ेगे और यह सबसे बड़ा बिगाड़ होगा।

यदि भूगोल सबधी जैन–रचना को मिथ्या माना जायगा तो 'जैन' का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा–न नदीश्वर द्वीप होगे न उनमे स्थित प्रतिबिम्बो के पूजक ही होगे। जैसे–

(१) जैन भूगोल के मिथ्या मानने पर विदेह क्षेत्र का अभाव होगा जिससे वहाँ के विद्यमान बीस तीर्थंकर असिद्ध होगे। आप बीस तीर्थंकर–पूजा न करेगे।

(२) सुमेरु पर्वत का अभाव होगा, तब तीर्थंकरो का जन्म कल्याणक अभिषेकोत्सव असिद्ध होगा।

(३) क्षीर–समुद्र का अभाव होने से जल–जो अभिषेक के लिए आया हो–वह भी न होगा।

(४) इन्द्रादि देवगण (ऊर्ध्वलोक) के अभाव मे अभिषेक किसने किया होगा?

(५) समवसरण देव रचते है, देवो के अभाव मे वह रचा न गया होगा तब तीर्थंकरो की दिव्य ध्वनि कहाँ से हुंई होगी?

(६) देवरचित अर्धमागधी भाषा के अभाव मे दिव्यध्वनि का इस भाषा मे होना भी सिद्ध न होगा।

(७) इन्द्र की सिद्धि न होने से गणधर की उपलब्धि भी सिद्ध न होगी और गणधर के अभाव मे दिव्य–ध्वनि भी नही होगी। ऐसे मे तीर्थंकरो का कोई भी उपदेश सिद्ध न हो सकेगा।

इतना ही क्यों? जैन भूगोल और ऊर्ध्वलोक की मान्यता के अभाव मे तीर्थंकरो के जीवन चरित्र के सबध मे भी विवाद खड़ा हो जायगा। यत जब स्वर्ग नहीं, तो तीर्थंकर के जीव का वहाँ होना और वहाँ से चयकर माता के गर्भ में आने का प्रसग ही नही और गर्भ मे न आने से पैदा भी न हुए। तथा देवगति के अभाव मे भगवान पार्श्वनाथ पर कमठजीव (देवयोनि) द्वारा और महावीर पर 'सगम' देव द्वारा उपसर्ग भी नही। ऊर्ध्वलोक के अभाव मे सिद्धशिला (मुक्त जीवो का स्थान) भी सिद्ध न हो सकेगा मुक्ति भी समाप्त हो जायगी और भी बहुत से विरोध खडे होगे।

हमारी दृष्टि मे जैन आगम सर्वथा तथ्य है। अमेरिकी वैज्ञानिको की मान्यता हो चली है कि चन्द्र अनेक होने चाहिए–वे खोज मे लगे है खोज होने दीजिए। वास्तव मे खोज कभी पूरी नही हो पाती क्योंकि वस्तु अनन्त धर्म वाली है और अनन्त को अनन्त ज्ञान ही जान पाता है।

समाज का लाखो रुपया जो दिखावट और यश–अर्जन मे अथवा किन्हीं सीमित हाथो मे अधिकार के लिए, इधर–उधर घूमता दिखाई देता है उसे वास्तविक 'ज्ञान–ज्योति' (ज्ञानप्राप्ति–शोध) मे लगाये जाने की आवश्यकता है–बुझने वाली, अस्थायी किसी 'ज्ञान–ज्योति' में लगाने की नहीं।

ऊर्ध्व और मध्य लोक की रचना के बारे मे लोग विद्वानो से पूछते है। आखिर, जैन–विद्वान् तो उतना ही बता सकेगे–जितना वे जानते हो। क्या समाज ने कभी विद्वानो को साइन्स के एक्सपर्ट बनाने के साधन जुटाए है? कोई ऐसी वैज्ञानिक रिसर्च शोधशाला खोली है जो जैन भूगोल पर शोध करे। क्षमा करे, समाज की दृष्टि तो आज भी मिट्टी–पाषाण, भाषा–लिपि और स्वत मे सिद्ध–स्पष्ट साहित्य ग्रन्थो को कुरेदने–उनमे इतस्तत विभिन्न जोड़–तोड बिठाने वाले शोधकर्ताओ और तथाविध शोध–प्रबन्धो को तैयार करने कराने की बनी हुई है। कोई उनमे छन्द–अलंकार की खोज मे लीन है तो कोई व्यक्तित्व और कृतित्व मे पी०एचडी० चाहता है और कोई पुरुषो की लम्बाई–चौड़ाई ही ढूढ़ता है। आगम के मौलिक तथ्यो को उजागर करने–कराने वाले तो बिरले ही है। मेरी दृष्टि से लोक–रचना और तत्त्वो के तत्त्व पर शोध किए बिना–मात्र आगम को मिथ्या बताने से कुछ हाथ नही आएगा। अपितु, रहा सहा जो है वह भी खो जाएगा। कृपया लोक रचना की पुष्ट–शोध कराइए और सोचिए।

ज्ञान के आगार और शोध–संस्थान?

जैन–धर्म और दर्शन स्व–पर स्वरूप को दिखाने वाले जीवित शोध–सस्थान थे। इनके माध्यम से भेद–विज्ञान का पाठ पढ़ाया जाता था और पढ़ाने वाले शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और गुरु कहलाते थे। शोध–सस्थानों की यह परम्परा तीर्थकर ऋषभदेव के समय से महावीर पर्यन्त अविच्छिन्न रूप मे चली आती रही–कभी कम और कभी अधिक। तत्त्वार्थसूत्र मे बतलाए गए साधुओ के भेदो मे गिनाए गए तपस्वी, शैक्ष्य,

ग्लान, गण, कुल, साधु, मनोज्ञ और अणुव्रती श्रावक सभी इन माध्यमों से ऊँची–ऊँची पदवियो को पाते और स्व–पर कल्याण करते–कराते रहे। पर, तीर्थंकर महावीर के बाद गौतम, जम्बू, सुधर्मा तथा अन्य मान्य आचार्यों और श्रावको के उपरान्त धीरे–धीरे इस परम्परा मे धूमिलता आती गई। फिर भी इनका चलन विद्यालयो, मन्दिरो और पुस्तकालयो के रूप मे जारी रहा–इनके माध्यम से स्व–पर भेद विज्ञान का पाठ चालू रहा। गुरु गोपालदास वरैया, पूज्यवर्णी गणेशप्रसाद जी आदि जैसे उद्भट विद्वान भी तैयार होते रहे।

आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि विद्यालय, विद्यालय न रहे। वे ईंट–पत्थरो के आगार मात्र रह गए और शिक्षा गुरु, गुरु न रहे वे कर्मचारी श्रेणी मे जा पडे। यह सब भौतिकता का प्रभाव है जो धन के लोभ और धन के प्रभुत्व मे क्रमश पनपता रहा। पढ़ाने वाले विद्वान धर्म–ज्ञान जैसे धन को पैसे लेकर बेचने लगे और भौतिक–विभूति वाले उनको खरीदने के आदी बन गए। कैसी बिडम्बना चालू हुई? जिनवाणी के सेवक कर्मचारी और तत्सबधी कुछ न करने वाले स्वामी होकर रह गए–जैसा कि सरकारी और लौकिक चलन है। बस यही से पतन का श्रीगणेश हुआ–दृष्टि मे बदलाव आया–धर्म नियमो मे राजनीति प्रविष्ट हुई जिसे कि नही होना चाहिए था।

इस भौतिकता का प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि बड़े–बड़े भवन बनते रहे, उनके भौतिक रजिस्ट्रेशन होते रहे, सरकारी मान्यताएँ मिलती रही। उनमे शोध–कार्य चले, और कहने को कुछ सफल भी हुए। पर वास्तव मे कुछ हाथ न लगा। जो भौतिक शोधे हुई वे ग्रन्थो, मन्दिरो और मठो तक ही सीमित रह गई–स्व–पर भेद विज्ञान से उनका कोई प्रयोजन नही। मानव आज भी पर मे लीन–भेद–विज्ञान शून्य है–उसे व्यावहारिक बातचीत का ढग भी नही आया है। देव–शास्त्र–गुरु की पूजा तो दूर वह आचार–विचार से भी भ्रष्ट हो चला है।

यह सब क्यो हुआ? इसमे कारण, दास–प्रथा को कायम रखने की मनोवृत्ति है या धर्म–ज्ञान की बिक्री की प्रवृत्ति या कुछ न करके भी अधिकारित्व जताने की भावना कारण है। जरा सोचिए और पतन के कारणो को रोकिए।

प्रश्न का उत्तर?

एक सज्जन का प्रश्न है कि आप 'जरा सोचिए' तो लिखते हैं, पर, क्या आपने स्वय भी कभी सोचा है कि–सोचेगा कौन? आप जिन तथ्यो पर सोचने की बात करते है, लोग उन्हे क्यो कर सोचेगे, जबकि उनके दिल और दिमाग दोनो भ्रमित हो चुके हो? क्या आपने हस्तिनापुर का काण्ड नही पढ़ा–सुना? वहाँ लोगो ने क्षेत्र के अतिशय की उपेक्षा कर गाली–गलौज और मार–पीट करके अपना ही अतिशय दिखा दिया। गत दिनो हमने 'वीर' मे आचार्यों, मुनिराजों और विद्वानो को सबोधित कर छपी मुनिचर्या सम्बन्धी इक्कीस प्रश्नो के निराकरण करने की वह विज्ञप्ति भी देखी जो अहिसा–मदिर दरियागज के श्री प्रेमचन्द जैन शाकाहार द्वारा छपाई गई है। पर, इन प्रश्नो का उत्तर कौन देगा? सबधित मुनिगण तो उत्तर देने से रहे। सच्चे मुनि बोलेगे क्यो–उन्हे अपनी दैनिक चर्या मे सावधान रहने से ही अवकाश नही। और जिनके अपने स्वार्थ है या जो भयभीत है वे विद्वान् भी क्यो बोलेगे। हॉ, कुछ समर्थों से बोलने की कुछ आशा की जाती है, वे बोले तो बोले–उन्हे किसका भय? पर, जब पत्र मे समर्थों को सबोधित ही नही किया गया तब वे बोलेगे क्यो? बात जहॉ की तहॉ रह जायगी।

उक्त प्रश्न का हम क्या निराकरण करे? भाई जी, हमारी समझ से इक्कीस प्रश्नो के पूछने मे चूक हुई जैसे दिखती है। प्रश्न तो उनसे पूछने चाहिए थे, जिनके कारण त्यागियो मे शिथिलता आई है। आज चन्द प्रश्न ही क्यो? हर ओर अनेकों प्रश्न गूज रहे है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह ही है कि आज जैनी है ही कहाँ, कितने? जैनी तो आचार–विचार से हुआ जाता है–डीग मारने और साइनबोर्डों के लगाने से नही। यदि विस्तार से

सभी पर विचार करने लगे तो प्रथम तो परमगुरु जैसे उच्च पद मे स्थित कई मुनियो की स्थिति ही (जैसी २१ प्रश्नो मे है) चिन्तनीय दिखेगी। हम पूरे समुदाय या व्यक्ति विशेष की समीक्षा के अधिकारी भी नहीं। फिर, कुछ मुनि–त्यागीगण निर्दोष भी तो है।

यह भली भाँति समझ लिया जाय कि आज अर्थ–युग है, और जैन होता है अर्थ से अछूता–अपरिग्रही या आचारवान सतोषी–श्रावक। उक्त दोनो प्रकार की श्रेणियो मे कितने जैन है, इसे सोचिए। धर्म की गिरावट मे मुख्य कारण तो परिग्रह और परिग्रही है और वे ही गिरावट के कारण पैदा करते है। पर, आज जो जितना अधिक परिग्रही है, अर्थ सम्पन्न है उसी को उतना बड़ा मानने का प्रचलन–सा चल पड़ा है। आज प्राय प्रभूत परिग्रही जैन ही नेता बनाए जाते हैं। कुछ लोग नाम के लिए–अधिकार पाने–प्रभुत्व जमाने के लिए भी नेता बनते हो तब भी आश्चर्य नही।

प्राचीन काल मे धर्म के नेता होते थे–त्यागी और विद्वान्। वे अपने आचार–विचार और ज्ञान के कारण समाज मे सन्मानित होते थे और समाज के नेता होते थे–उदारमना, परोपकारी सेठ–साहूकार। दुर्भाग्य से आज इस अर्थयुग मे धर्म और समाज दोनो का ही नेतृत्व अर्थ के हाथो पड़ गया है। ऐसा होने मे सबसे बड़ा कारण है–बहुत से त्यागी और विद्वानो का अर्थ की ओर खिच जाना–त्याग से कट जाना। यहाँ तक कि आज विद्वानो की अपेक्षा कुछ त्यागी कही अधिक मात्रा मे सग्रह कर–करा रहे है–लोग उन्हे देते भी है। जब एक व्यापारी को अपने व्यापार मे थोड़ी–बहुत पूँजी लगानी पड़ती है तब त्यागी का व्यापार बिना किसी पूजी के बातो पर ही चलता है। जिस किसी को अर्थ सचय करना हो बातो की कला सीखे और बाह्य–त्यागी वेष मे आ जाय–पैसो की कमी नही रहेगी। उसे पैसे भी मिलेगे और पूजा–प्रतिष्ठा भी। हाँ, वह कुछ सहयोगी अवश्य बना ले। बस, यही कारण है कि विद्वानो और त्यागियों मे धर्म के प्रति शिथिलता आ गई और समाज की बागडोर के साथ धर्म की बागडोर भी पैसे और पैसे वालो के हाथो मे चली गई। धर्म की दुर्दशा का मूल कारण यही है।

स्मरण रहे–धर्म तो सदाचार, त्याग–तपस्या और ज्ञान पर निर्भर है। आचारवान और विवेकवान ही इसकी रक्षा करने में समर्थ है। यदि जैन की रक्षा करनी है तो विद्वानो को अर्थ–मोह छोड़ आचाररूप मे आना पड़ेगा और त्यागियो को यम–नियम मे सावधान रह आदर्श उपस्थित करना पड़ेगा। ऐसा नही ही चलेगा कि आचारहीन को धर्म की बागडोर पकड़ा दी जाय और विद्वान् और त्यागी अर्थ के पीछे दौड़े लगाएँ। हमे तो तब भी आश्चर्य होता है जब मूल–भाषा के ज्ञाता आगम–रक्षा मे उदासीन हो या मुह छिपाएँ और भाषा–ज्ञानशून्य बढ़कर बाते करे। पिछले दिनो हमारे आगम सबधी लेख को देखकर एक सज्जन की खबर आई कि पडितजी ने तब क्यो नहीं कहा, जब बिगाड़ शुरू हुआ? दूसरे का उलाहना था कि पडित जी बहुत–कुछ उल्टा–सीधा लिखते है–सँभलकर लिखना चाहिए?

भाई जी, हम तो प्रारम्भ से ही आगम–बदलाव के विरोध मे रहे है। सन् १९८० मे 'अनेकान्त' मे भी हमने 'कुन्दकुन्द की प्राकृत' शीर्षक से विरोध प्रकट किया था। और स्व० प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने हमारे विचारो को समर्थन भी दिया था। अब जब पुन बिगाड़ सामने आया तो फिर लिख दिया। हम फिर स्पष्ट कर दे कि हमारा किसी से विरोध नही। हाँ, हमे साधु और आगम का पक्ष अवश्य है। दूसरी बात–हमे तब भी कोई गिला–शिकवा नही, जब हमे कोई धमकी दे या हमारा कुछ बिगाड़ करे। आज तो बहुत से जैनियो का ऐसा धन्धा ही बन चुका है। हम समाज की स्थिति और आदत से पूर्ण परिचित है, उसने हस्तिनापुर काण्ड से स्वभाव का परिचय भी दिया है। हम यह भी जानते है कि विगत मे भी कई समाज सेवको को इस समाज ने कैसे–कैसे भयावह उपहार दिए है? अस्तु

हम फिर कहते है कि यदि धर्म की रक्षा करनी है तो विद्वान् और त्यागी सही रास्ते मे आकर धर्म की बागडोर सँभाले। ये काम परिग्रहियो का नही–अपरिग्रही या अल्प सन्तोषियो का है। इतना ही काफी है कि–राजा, महाराजा, सेठ–साहूकार सभी उदार और परोपकारी रह कर मात्र समाज

का उत्तरदायित्व सँभाले–उसकी सहायता करे और धर्म के मुखियापने से 'विरत' हों।

आप चाहे जो सोचे, हमारी दृष्टि से लोगो मे दिल और दिमाग अब भी शेष है–केवल निष्पक्ष होकर सोचने और हिम्मत करके नि स्वार्थभाव से आगे आने की जरूरत है–सारे प्रश्न हल होते देर न लगेगी। हॉ, त्यागियो और विद्वानो को अपने गरिमामय पदो में लौटना पड़ेगा–स्वागत है।

कमीशन बिठाने का सुझाव

मूल आगम भाषा के बदलाव के विरोध मे दूसरी बार उठाई हमारी आवाज के बाद हमे अनेक उद्भट मान्य मनीषियो के समर्थन मिले है, उनमे धवला जैसे मान्य ग्रथो के सम्पादन करने वाले अनुभवी भी हैं। आगम आर्ष कहलाते है और उनमे व्याकरण की अपेक्षा नही होती। व्याकरणो का निर्माण आर्षो के आधार पर बहुत बाद मे हुआ है। अत पश्चाद्वर्ती– व्याकरण द्वारा आगम–सशोधन नही किया जा सकता–यह सर्वमान्य बात है।

विद्वानो के मत है कि मूल मे बदलाव नहीं करना चाहिए, यदि पाठान्तर हो या सम्पादक की कुछ अन्य मान्यता हो तो उस सबको टिप्पण मे दिया जा सकता है। भा०दि० जैन विद्वत्परिषद् ने भी इसी बात की पुष्टि की है। विद्वानो की इस जागरूकता के लिए हम आभारी है। हम चाहते हैं कि मान्य विद्वान्–जैसी उनकी सम्मतियॉ है, हिम्मत करके–बिना किसी झिझक के आगे आएँ और बदलाव को रुकवाएँ।

हमारे समक्ष ऐसे भी सुझाव आए है कि आगमो की भाषा कौन सी प्राकृत है? इसके निर्णय के लिए प्राकृत–विदो का कमीशन बिठाया जाय। सुझाव का हम आदर करते है–सरकार मे भी कमीशन और दर–कमीशन बिठाने की परिपाटी है–हमे कोई ऐतराज नही। पर, यह शोचनीय अवश्य है कि जब वर्तमान विद्यमान प्राकृतज्ञ जिस व्याकरण को (के आधार पर) पढ़कर प्राकृतज्ञ बने है वह व्याकरण आर्ष–निर्माण के बहुत (शताब्दियों)

बाद आर्षों के आधार पर बना है—तब वे पूर्ववर्ती आगमो मे व्याकरण द्वारा विभक्त किसी एक भाषा का निर्धारण कैसे कर सकेगे, जबकि आगमो मे परवर्ती विभिन्न जातीय व्याकरणो से सिद्ध विभिन्न शब्दरूप मिलते है।

फिर इसका निर्णय एक—दो दिन का विषय भी नही—लम्बे विचार का विषय है। फलत एक—दो दिन के कमीशन बिठाने की अपेक्षा हम उचित समझते है कि विद्वान् इस विषय मे खोज करे और सप्रमाण मैटर (लेख) तैयार करे। वीर सेवा मन्दिर उपयुक्त लेखो पर उपयुक्त पुरस्कार भेट करेगा। इससे लेखको को विचार करने का अवसर भी मिलेगा और लेखो का सग्रह भी होगा। लेख सादर आमत्रित है। हमारी भावना विरोध की नही, अपितु हम चाहते है कि—प्राचीन कोई प्रति आदर्श मानी जाकर वैसे ही पूरे पाठ छपाए जायॅ और पाठ—भेद या अपना अभिमत हो तो टिप्पण मे दिए जाएँ।

ग्रन्थों का सम्पादन और सुझाव

जब हमने मूल—आगम के बदलाव को रोकने की बात उठाई तो एक महाशय ने शत—प्रतिशत हमारा समर्थन करके भी हमे बाद मे सलाह दी कि इस विरोध के बजाय यदि आप किसी ग्रन्थ का सम्पादन करके कोई आदर्श उपस्थित करते तो और अच्छा होता। शायद उन्होने हमारी कमजोरी और हमारे दृष्टिकोण को नही समझा, जो वे हमारी जॉच मे उतर पड़े। हम बता दे कि हम इतने योग्य नही कि आगम ग्रन्थो पर कलम चला सके। फिर हमारा यह धन्धा भी तो नही। हमारी दृष्टि से जब कई बड़े—बडे विद्वान् जिनग्रन्थो के कई—कई सपादन करके आदर्श उपस्थित कर चुके हों और उन्ही सम्पादनो से किसी को आदर्श न मिल सका हो, तब हम किस खेत की मूली जो आदर्श दे सके? फिर, हम तो एक—एक ग्रन्थ के अनेक—२ सपादनो के पक्ष मे भी नही। क्योकि जितने सपादन उतनी विविधताएँ। कई बार तो पाठक को ऐसा भ्रम तक हो जाता है कि कौन—सा ठीक है, और कौन—सा नही। साथ ही पाठक सपादको के शब्दजाल मे

भी उलझ जाता है। उदाहरण के लिए समयसार के सपादनो को ही लीजिए। कितने–कितने उद्भट विद्वान् समयसार के पृथक्–पृथक् कितने ही सपादन कर चुके है फिर भी कार्यसिद्धि नही–विसवाद ही है–किसी को कोई ठीक है और किसी को कोई?

काश, हमारा प्रयत्न समयसार आदि के मूल और आचार्यों कृत उसकी सस्कृत टीकाओ के शब्दार्थ मात्र के अनुसरण मात्र मे होता–हम लोगो को शब्दश अर्थ देते–उन्हे अपने भाव न देकर आचार्यों के शब्दश मन्तव्य समझाते तो विवादो से तो बचे ही रहते–सपादनो मे पुन–पुन प्रभूत द्रव्य भी व्यय न हुआ होता और जिनवाणी का मूलरूप भी सुरक्षित रहा होता।

इसका अर्थ यह नही कि हम सपादनो के खिलाफ है–सम्पादन तो हम चाहते है–वे हो और जानकार योग्य सपादको से हो और ऐसे ग्रन्थो के हो जो प्रकाश मे न आ सके हो। जैसे किसी समय भाषा के दिग्गज विद्वानो द्वारा षट्खण्डागम का सपादन हुआ था। आदि।

एक सुझाव यह भी था कि समाज मे वैसे ही बहुत से विवाद है आप भाषा का नया विवाद क्यो छेड़ते है? यह सुझाव भी उल्टा होने से हमे रास नही आया। हम सोचते है कि कैसे–कैसे लोग है–जिन्हे हमारा आगम–रक्षा का प्रसग तो विवाद दिखा और आगम के मूल–लोप जैसे श्री गणेश के समय और आज भी वे मौन साधे रहे? हम नही समझे उनकी क्या साध थी या उन्हें किसका क्या भय या लालच था? जो वे जिनवाणी के लोप को गुप–चुप देखते रहे? इसे वे ही जाने। जरा, आप भी सोचिए, कि ठीक क्या है? हमारा कोई आग्रह नही–विचार है।

सत्य को पहचानिए

"हमारे साथ जो डाक्टर विद्वान् थे, जिन्होने पहली बार साधु सघो में कुछ ऐसा देखा, जो वीतरागता के फ्रेम में फिट नही बैठता, उन्होने कुछ दृश्यो पर साश्चर्य वेदना व्यक्त की। हमने उनसे इतना ही कहा–

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहे लोग सब, बाटि न लैहे कोय।।"

–जैन गजट, सपादकीय ३० जून ९४

उक्त विचार एक प्रबुद्ध सपादक के है। सपादक जी स्वय चारित्रवान् और सच्चारित्र समर्थक है, उन्हे मुनि और श्रावक की चर्या का भी पूरा ज्ञान है। वे धर्म–सरिक्षणी विशेषण–युक्त महासभा के प्रतिष्ठित सक्रिय कार्यकर्ता भी है। उनके उक्त कथन मे कितना दर्द और कितनी वेदना है–इसे पाठक महसूस करे। इसी लेख मे उन्होने समाज के प्रति भी लिखा है–

'एक दूसरे के सुनने–समझने की पद्धति का अभी अपने समाज मे विकास नही हुआ है।'

इसी प्रकार दिगम्बर जैन महासभा ने अपने लखनऊ अधिवेशन मे चा०च०पू०आ० शान्तिसागर महाराज को इस सदी का प्रथम आचार्य घोषित कर अकलीकर प्रसग के पटाक्षेप की कामना की है। स्मरण रहे यह कलहकारी प्रसग भी किन्ही पूज्य मुनिराज द्वारा ही उछाला गया है। सच्चाई को उजागर करने के लिए महासभा को धन्यवाद।

गत दिनो हमारे पास एक नेता का पत्र आया है कि 'क्या सत्य है और क्या असत्य इसका कभी कोई मूल्याकन इस समाज मे नही होगा।'

उक्त सभी प्रसग सामाजिक मनोदशा एव त्याग की बिगड़ी स्थिति को जिस रूप मे प्रस्तुत करते है वह सर्वथा चिन्तनीय है। पर हम निराश नही है। हमारी दृष्टि तो इसी समाज पर लगी है। हम यह जानने के ही प्रयत्न मे है कि क्या वास्तव मे ही समाज अच्छे बुरे की पहिचान मे नाकारा है? यदि ऐसा होता तब न तो प० नरेन्द्र प्रकाश जी ही सत्य मनोभावना उजागर करते और न महासभा ही पू०आ० शान्तिसागर जी को मान दे–अकलीकर प्रसग के पटाक्षेप की बात कहती।

स्मरण रहे लोग असलियत भी समझते है–हाँ, धर्म भीरुत्व, अन्धश्रद्धा, स्वार्थपरता और बुराई उजागर होने का आतक आदि उन्हे मौन के लिए प्रेरित करते है और उनकी इसी कमजोरी का गलत फायदा उठाकर कुछ लोगो ने परपरित मूल–आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विहित श्रावक व मुनि के आचार की मिट्टी खराब कर रखी है और दिगम्बर विहित दिगम्बर–धर्म दिनोदिन क्षीण हो रहा है। आशा है कुछ प्रबुद्ध–जैन धर्म–रक्षण रूप यज्ञ पारम्भ करेगे और आहुति डालेगे। ताकि दिगम्बरत्व की रक्षा हो।

धर्मलाभ और धर्मवृद्धि

स्वामी समन्तभद्राचार्य की **'बीजाऽभावे तरोरिव'**–बीज के अभाव मे वृक्ष की भॉति। इस उक्ति को प्रस्तुत करते हुए एक सज्जन ने विचार दिए कि –

सभी जानते है कि वृक्ष की उन्नति तभी होती है जब मूल मे बीज हो। पर, अब ऐसा मालूम देता है कि वर्तमान आविष्कारो के युग मे स्वामी समन्तभद्र के वाक्यो को झुठलाने के प्रयत्न भी जारी है। बाज लोग धर्मरूपी बीज के अभाव या मुरझाने मे भी 'धर्मवृद्धि' के स्वप्न सजोने मे लगे है, पहिले उनमे आचाररूप धर्म स्थापित तो करे। उदाहरण के लिए हमारे यहॉ मुनियो द्वारा एक वाक्य बोला जाता है–'धर्म बृद्धिरस्तु'–तुम्हारे धर्म मे बृद्धि हो। यह वाक्य मुनिवर उस जैन के प्रति बोलते है, जो उन्हे नमोऽस्तु अथवा वन्दन करता है। बड़ी अच्छी बात है–आशीर्वाद और वह भी धर्मवृद्धि का। पर, आज के युग मे जब हिसा, झूठ, चोरी, परिग्रह रूपी पापो मे बढवारी सुनी जा रही है तब धर्म के बीज कितनो मे सुरक्षित होगे? शास्त्रो मे पापो के एकदेश त्यागी को व्रती श्रावक कहा गया है और अष्ट मूलगुण धारण जैन मात्र को अनिवार्य हैं। ऐसे में कितने जैन ऐसे है जिनके मात्र रात्रि भोजन का त्याग हो और बिना छना पानी न पीने का नियम हो? कितनो मे धर्म के बीज ठीक हैं जिन्हे 'धर्मवृद्धि' जैसा आशीर्वाद दिया जाय? वे बोले–हम तो सोचते है कि पापवृद्धि के इस युग मे धार्मिक नियम पालको के सिवाय, जिनके बीज मुरझा रहे हो– उन्हे 'धर्मवृद्धि' जैसा

आशीर्वाद न दिया जाकर यदि 'धर्मलाभ' या 'पापहानिर्भवतु' कहा जाय तो उपयुक्त जँचता है। वे आगे बोले—एक बात और है जो श्रावकोचित होगी। वह यह कि—आज के वातावरण के देखते—सुनते हुए जब कतिपय (क्वचित्) मुनियो मे शिथिलता के प्रति लोगो मे चिंता व्याप्त है, तब श्रावको का कर्तव्य है कि वे ऐसे मुनियो के प्रति भावना भाएँ—'सद्धर्मबुद्धिर्भवतु।' और यह इसलिए कि ऐसे मुनियो मे अभी धर्म के ठीक बीज होने की सभावना है और वे बीज, वृक्षरूप मे बढ़ सकते है। अन्यथा—

अब तो कतिपय मुनियो मे शिथिलाचार पनपने की बात कतिपय कट्टर मुनिभक्त भी करने लगे है। उन्होने कहा—हमारे पास कई ऐसे पत्र सुरक्षित है (उन्होने हमे कई मनीषियो के तत्कालीन कई पत्र भी दिखाए) जिनमे मुनियो के शिथिलाचार सम्बन्धी अनेको उल्लेख हैं।

वे बोले—आप इन्हे छापेगे?

हमने कहा—यह तो मुनि निन्दा है और मुनि—निन्दा के हम सख्त खिलाफ है। हम बरसो मुनि—चरणो मे रहे है, हम ऐसा करने को तैयार नही।

वे बोले—आपको पत्रो के प्रकाशन मे क्या आपत्ति है? पत्र तो दूसरो के है।

हमने कहा—कुछ भी हो, छापने मे धर्म की हँसाई तो है ही। यदि पत्र छापने से सुधार की गारण्टी हो तो हमे छापने मे कोई आपत्ति नही। पर, छापने से सुधार हो ही जायगा यह विश्वास कैसे हो?

खैर, बहुत चर्चा चली और हमने उनसे कुछ पत्रो की फोटो—स्टेट कापिया ले ली और कह दिया देख लेगे। पत्र वास्तव मे कट्टर धर्मश्रद्धालु मनीषियो के ही है। एक पत्र तो एक लेख के प्रति एक मुनिराज के उद्गारो का है। लिखा है—

"आपने जैन समाज एवं साधुओ मे जो शिथिलाचार फैल रहा है इसको अतरग से प्रकट किया है। देखिए, नाराज तो होना ही नही किन्तु इसका दृढ़ता से प्रतिकार करना होगा। आपने पत्र मे असली बातो को लिखा

है। पैसा, प्रतिष्ठा और सत्ता मे सभी पागल होने जा रहे है, निज धर्म को छोड़कर। इससे धर्म, समाज और साधु परम्परा मे समीचीनता नहीं रह रही है। एक नाम के पीछे धर्म और आगम–आर्ष–परम्परा का नाश कर रहे है। ठीक समय पर प्रतिकार कर स्थिर करना जरूरी है। कुन्दकुन्द आचार्य का मूलाचार और शिवकोटी आचार्य का भगवती आराधना ग्रन्थ उल्लंघन (कर) अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाह रहे है।"

इसी विषय की चिता एकाधिक कई विद्वानो मे व्याप्त है, उनके भी पत्र है। इस प्रसग मे एक चोटी के विद्वान के लेख को हम अभी पढ़े है उसके कुछ अश इस प्रकार है–

"उन्हे ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिए, गर्मी के ताप से बचने के लिए पखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटरगाड़ी चाहिए, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सबका प्रबन्ध उनके बिना लिखे–पढ़े ही करती है।"

हम मुनि–निन्दा के भय से अन्य सगीन जैसे पत्रो को जानबूझकर नही छाप रहे। हॉ, यदि धर्म–मार्ग मे ऐसी भयावह स्थिति है तो अवश्य ही विचारणीय और प्रतीकार के योग्य है। नेता यदि धार्मिक नेता है तो उन्हे और सभी समाज को भी ऐसे सुधारो के लिए ठोस कदम उठाना चाहिए।

हम यह निवेदन और कर दे कि हम जो कुछ उद्धरण दे रहे है, सब उपगूहन और स्थितिकरण की भावना से धर्मवृद्धि के लिए ही दे रहे है। कोई हमारे प्रति ऐसे भ्रम मे न पड़े या ऐसा ना ही समझे या कहे कि–मुनिपथ मे से किसी की ओर से हमारा कोई बिगाड़ हुआ होगा या हमारे किसी लाभ की प्राप्ति मे किसी ने कोई बाधा दी होगी। हम तो सभी मुनियो के भक्त हैं और हमारी श्रद्धा में विधि–विधान द्वारा दीक्षित शुद्ध–चारित्र पालक सभी मुनि, साधु हैं। फलत हमे मुनियो के आचार के ह्रास या मुनियो मे छीना–झपटी जैसी बाते सुनना नही रुचता। अत कुछ लिख देते है। अब तो श्रावकों व मुनियो को स्वय ही सोचना चाहिए कि पानी

कहाँ मर रहा है? और किसे कहाँ सफाई करना है। हमे आशा है कि जिस ओर पानी मर रहा होगा उसी पक्ष की ओर से बहाव उबलेगा। तथ्य क्या है? जरा सोचिए।

और यह भी सोचिए कि यदि वास्तव में इस मार्ग मे बिगाड़ है तो सुधार के साधन क्या है? क्योकि आज समाज मे धर्म–ह्रास के प्रति (प्रकारान्तर से अनजान मे ही सही) ऐसा वातावरण बन चुका है जो दिन पर दिन लाइलाज होता जा रहा है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो भॅवर मे पड़ी धर्म की नैया एक दिन अवश्य डूब जायगी–इसमे सन्देह नही।

हमने देखा है कि कई जानकार किन्ही के दोषो के प्रति आपस मे कानाफूसी करते हुए भी खुलकर कहने की हिम्मत नही कर पाते। 'हमसे तो अच्छे है' सम्प्रदाय वाले सिर फोडने तक को तैयार है। पराधीन या मुह–देखी करने वाली कोई पत्रिकाएँ असलियत छापेगी क्यो? इस प्रकार जब सभी ओर से सुधार–मार्ग अवरुद्ध हो, तब क्यो न खुले–ताण्डव को बल मिलेगा–जैसा कि मिल रहा है? जरा सोचिए।

मार्ग दर्शन दें

हमने एक शोध–सस्थान की परिचय–पत्रिका मे पढा है–

"मनुष्य का हृदय एक अष्टदलाकार सुन्दर पुष्प के समान है। भाषा उसका विकास है और भाव–लिपि उसकी गध है। द्रव्यलिपि कामधेनु–कल्पवृक्ष है। शब्द नौका है, अर्थ तटभूमि है। अत अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्ध एव सम्पूर्ण आगमो की निर्मात्री, भगवान आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् बारहखड़ी सीखकर शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।–धवला"

प्राचीन शास्त्रीय मौलिकताओ, पुरातत्त्व, इतिहास आदि की खोजो के लिए स्थापित किसी शोध–सस्थान द्वारा खोजा हुआ, धवला से उद्धृत उक्त अश हमे बड़ा हृदयग्राही लगा। इससे ऐसा मालूम होता है कि उन दिनो भी प्राचीन रचनाओ मे आज जैसे भाषा–बहाव की जमावट करने

मे कई आचार्य सिद्ध–प्रज्ञ रहे है। और ऐसा सम्भव भी है। क्योंकि उन दिनो कई आचार्य घोर तपस्वी होते थे और उनमे कोई–कोई अपने तप के प्रभाव से भविष्य–ज्ञाता तक बन जाते थे–ऐसी जन–श्रुति है। अत. यह भी सभव है कि धवलाकार भी उसी श्रेणी मे रहे हो और तब उनके भावो और लेखनी मे आधुनिक (वर्तमान मे प्रचलित) शैली, भाषा–भाव की पुट आ गई हो और उन्होने उस भगिमा को तत्कालीन प्राकृत या सस्कृत भाषा मे गूथ दिया हो। जिसका उपर्युक्त (उद्धृत) सही शब्दार्थ धवला के मूल से उद्धृत किया गया हो। खैर, जो भी हो–हमे आचार्य के प्रति अपूर्व श्रद्धा है, इसलिए पिपासा शान्त करने के लिए हमने धीरे–धीरे कई दिनों तक धवला के पन्नो को पलटा। पर, बहुत खोजने पर भी जब उक्त मूल अश न मिल सका और हम निराश रहे, तब हमने शोध–सस्थान के अधिकारी को पत्र लिखा कि वे हमे दिशा निर्देश दे कि उक्त अश के मूल को धवला की किस पुस्तक के किस पेज पर देखा जाय? लेकिन आज तक कोई जवाब न मिला।

अब विद्वानो से प्रार्थना है कि यदि उन्होने धवला के उक्त अश के मूल को किसी पुस्तक मे देखा हो तो हमे मार्ग दर्शन दे। अन्यथा, उक्त प्रसग मे हमे लिखना पडेगा कि ऐसी विसगति क्यो? क्या ऐसे शोध–सस्थान हमे सही दिशा दे सकेगे? जरा सोचिए।

साथ दें और अनुमोदन करें

आज गुणग्राहकता का स्थान व्यक्तिपूजा ले बैठी–जिसका परिणाम आचार–विचार का ह्रास सन्मुख है। लोग महावीर और कुन्दकुन्दादि को प्रमुखता देकर उनके व्यक्तिगत गान मे लगे है और उनका मुख्य केन्द्र उन्ही के व्यक्तित्व को महान बताने मात्र मे लग बैठा है। महावीर ऐसे थे, कुन्दकुन्दादि ऐसे थे इसे सब देख रहे है। पर, हम कैसे है, इसे बिरले ही देखते होगे। पूर्वजो के नाम पर कही भवन बन रहे है, कही सस्थाएँ खड़ी हो रही है–पुद्गल के पिण्ड जैसी। लोग इस हेतु बे–हिसाब लाखो–लाख सचय कर रहे हैं और बे–हिसाब खर्च भी कर रहे है। कोई कहे तो,

कही–कही यह भी सुनने को मिल जाय–कि आप क्यो बोलते है, आपका क्या खर्च हो रहा है? तब भी आश्चर्य नहीं। समाज की पूरी आर्थिक, मानसिक और कायिक शक्तियां इसी मे लगी है। हर साल महावीर आदि अनेक महापुरुषो की जयन्तिया मनाई जाती है। आए दिन अनेक उत्सव और समारोह होते है। लोग फिर भी आगे बढ़ने की बजाय पीछे चले जा रहे है–उनके धार्मिक सस्कार पुष्ट होने के बजाय लुप्त होते जा रहे है ऐसी आवाजे सुनने मे आती है और प्रबुद्ध–जन इस पर चिंतित भी दिखाई देते है।

स्मरण रहे जैनधर्म व्यक्ति पूजक नही, गुण–पूजक है। और इसमे गुण–ग्राहकता का उपदेश है–गुण ग्रहण ही सबसे बड़ी पूजा है, सच्ची पूजा भी यही है और अनेक ईश्वरवाद का मूल भी यही है। बड़ी खुशी की बात है कि आज आचार्य कुन्दकुन्द द्वि–सहस्राब्दी मनाने का उपक्रम जोरो पर है। लोग कुन्दकुन्द के नाम पर स्तूप खड़े कराने, उनके नाम पर सस्थाएँ खड़ी कराने और उनकी रचनाओ को अपनी बुद्धि अनुसार (मनमाने ढंग से भी) अनेक भाषाओ मे रूपान्तरित करने–कराने मे सक्षम हो, उनमे वैसी बुद्धि और वैसा द्रव्य भी हो, यह सब तो शक्य है। पर, ऐसे कितने लोग है जो उन जैसे मार्ग का सही रूप मे अनुसरण कर सके, वैसे ज्ञान और वैसे आचार–विचार मे अपने को ढाल सके? इसका अनुमान लगाना शक्य नही। और आज जैसी स्थिति और मनोवृत्ति मे तो यह सर्वथा ही शक्य नही।

हमारा अनुभव है कि आज लोगो मे व्यक्ति पूजा की होड़ है। कई लोग महापुरुषो की व्यक्तिगत पूजा के बहाने अपने व्यक्तित्व को पुजाने मे लगे है। क्योकि उत्सवो, शताब्दी और सहस्राब्दियो के बहाने अपने व्यक्तित्व को चमकाना सहज है–किन्तु गुणो का ग्रहण करना सहज नहीं। काश, कुन्दकुन्द द्वि–सहस्राब्दि मे यह हो सके कि लोग अपने को कुन्दकुन्दवत् सहस्राश रूप मे भी ढाल सके, उनके उपदिष्ट धर्म के आचरण का सही मायनो मे प्रण ले सके–धर्म मार्ग मे आगे बढ़ सकें–तो हम स्वागत

के लिए तैयार है। अन्यथा, हम अब तक के ऐसे कई उपक्रमो को तो बाजीगर के तमाशे की भाँति ही मानते रहे है। बाजीगर तमाशा दिखाता है, तब लोग खुश होते है, प्रशसा करते है, पर, क्षणभर मे बाजीगर के झोली उठाकर जाने के बाद लोग खाली पल्ला चल देते हैं, स्टेज के बाँस, बल्ली और शामियाना उनके मालिक उठा ले जाते हैं, माइक वाला पैसे झाड़ चलता बनता है। सभी को जाना था सो चले गए, रह गया तो बस, मात्र धर्म मार्ग का सूनापन।

लोगो ने आज तक कितनी जयन्तियाँ मनाई, इसकी गिनती नही। पच्चीससौवा निर्वाण उत्सव भी मनाया गया था, तब कितनो ने व्रत–नियम लिए और कितनो ने अपने आचार–विचारों मे शुद्धि की? ये सोचने की बात है? और यह भी सोचने की बात है कि कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि के अवसर पर कितने अपने निज का आत्मोद्धार करेगे? यदि ऐसा हो सके तो अत्युत्तम। हम सबके साथ है और हमारा अनुमोदन भी।

दि० मुनि का अभाव धर्म को ले डूबेगा

सच्चे देव–शास्त्र–गुरु ये तीनो जैनधर्म के रूप है। और, इस पचम काल मे–यह धर्म केवलियो के बाद, शास्त्र और गुरुओ के कारण अनुभव और आचरण रूप मे आता रहा है। अब तक धर्मात्मा जैन–विद्वानो और त्यागियो ने इस धर्म की ज्योति को प्रज्वलित रखा है और श्रावको की रुचि और आचरण को इस ओर कराने का श्रेय भी इन्ही को है।

यह सर्वविदित है कि वर्तमान मे शास्त्रों के मूल–रूप के पठन–पाठन मे ह्रास है और मूल के ज्ञाता विद्वान धीरे–धीरे समाप्त होते जा रहे है तथा कतिपय दिगम्बर त्यागी गुरुओ मे ज्ञान की क्षीणता और आचार के प्रति शिथिलता देखी और सुनी जा रही है–अनेक दिगम्बर व्रतधारी भी स्वच्छन्द आचार–विचार बनाने और तदनुरूप प्रचार करने में लीन हैं। इसको जानते–देखते हुए भी वर्तमान अनेक विद्वान और श्रावक उनकी इन प्रवृत्तियो का पोषण करते देखे जाते है। ऐसा क्यो?

हम ऐसा समझे है कि अपनी–अपनी आवश्यकतानुसार विद्वान और श्रावक दोनो अपने–अपने अभावो की पूर्ति मे लगे है–कोई धनाभाव को निरस्त करने और यथेष्ट की प्राप्ति मे और कोई यश–प्रतिष्ठा की पूर्ति मे। धर्म और धर्म के स्रोत व धर्म के मूर्तरूप–गुरुओ के स्वरूप की रक्षा का किसी को ध्यान नही। पर–

"निश्चय समझिए कि यदि दिगम्बर गुरु के आचार–विचार में बदलाव आता है तो दिगम्बर–धर्म की खैर नहीं–उसका लोप अवश्यम्भावी है।" बौद्धधर्म के भारत से पलायन और उस धर्म मे शिथिलता आने के मूल कारणो मे भी उनके साध्वाचार मे शिथिलता आना ही मुख्य कारण था–यह हम देख ही चुके है। जैनधर्म के भट्टारको के ह्रास का कारण भी यही है।

इस प्रसग मे कही–कही अब स्थिति इतनी बिगड गई है कि सुधार सहज–साध्य नही। कुछ धर्मात्मा, विद्वानो, त्यागियो, श्रावको व श्राविकाओ को सगठित कर शिथिलाचारो की छानबीन कर, सब प्रकार के प्रयत्न कर बिना भेदभाव के, शिथिलाचारियो के शिथिलाचार को परिमार्जन कर उनका धर्म मे स्थितिकरण करना होगा। अत धर्म प्रेमी जन दिगम्बरत्व के शुद्ध–स्वरूप को समझ, दिगम्बर धर्म की रक्षा मे सन्नद्ध हो–ऐसी हमारी प्रार्थना है। सुधार मार्ग मे पक्ष या भय को स्थान नही। सच पूछे तो पक्ष और भय ने ही मूल–दिगम्बरत्व और उसके स्वरूप पर कुठाराघात किया है। वरना, मन्दिरो और धर्मशालाओ के होते, गृहस्थो के बीच– उनकी सुख–सुविधा युकत कोठियो को मुनि व त्यागी अपना आवास क्यो बनाते? शीतोष्ण परीषह सहने के स्थान पर शीत–निवारक हीटर और उष्णताहारी कूलर–एयरकण्डीशनर का उपयोग क्यो करते अथवा क्यो ही दश मशकपरीषहहारी–मच्छरदानी व कछुआ छाप तक का उपयोग करते? जो बराबर देखने मे आ रहा है। क्या मुनिधर्म यही है? क्या, जैन और जैनेतर साधु मे वस्त्र–निर्वस्त्र होने मात्र का ही अन्तर है, या और कुछ भी? जरा सोचिए।

समाज मे स्थितिपालक और सुधारवादी जैसे दो धड़े है। हमारी श्रद्धा उन स्थितिपालको मे है जो प्राचीन और धार्मिक आचार परम्पराओ को कायम रखने के पक्षपाती हो। फलत. हम मुनियो को निर्दोष २८ मूलगुणो के पालकरूप–प्राचीन स्थिति मे देखना चाहते है–उन्हे शास्त्रविहित आचार से तनिक भी विचलित नही होना चाहिए। ऐसे मे यदि आचार–विचलित मुनियो को पूर्वाचार मे लाने जैसी सुधार सम्बन्धी हमारी बात मात्र से कोई हमे सुधारवादी समझ बैठे तो हम क्या करे? क्या, इन मायनो मे हम स्थितिपालक नही? जरा सोचिए!

जैनी कैसे बना जाय?

धर्म और अधर्म दोनो मे तथ्य–अतथ्य, सत्य–असत्य और हा–ना जैसा अन्तर है। धर्म वस्तु का स्वभाव और अधर्म वस्तु का बनावटी रूप है। जब धर्म स्व–द्रव्य मे पूर्ण और सम–रूप मे व्यापक है तब अधर्म मे न्यूनाधिक्य और अव्यापकत्व है। वस्तु मात्र के सत्यरूप को विचारे तो छहो द्रव्यो मे अपने गुण–धर्म पूर्ण निश्चित हे, उनमे कभी फेर–बदल नही होता।

हमने कभी इसी स्तम्भ मे जिन, जैन और जैनी की विवेचना की थी कि जैनी वाह्य–आचार और अन्तरग–विचार मे समानरूप मे एक होता है। मात्र जैन या जैनी नाम लिखने–लिखाने से जैनी नही हुआ जाता। आज हमे इस परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिए कि हममे कितने जैनी है और कितनो ने कारणो वश जैन का बाना ओढ़ रखा है? कितनो ने समाज मे घुले–मिले रहने के लिए और कितनो ने राजनैतिक दृष्टि से गणना बढ़ाने के लिए, अपने को जैन घोषित कर रखा है? आदि

गत दिनों दिल्ली बूचडखाने के विरोध मे कई पत्र मिले, अखबारो मे लेख और स्वतन्त्र पैम्फलेट भी देखे। बड़ा सन्तोष हुआ कि अभी जैनो मे चेतना है, वे महावीर के उपासक है। पर बाद मे जब स्वकीयो के सम्बन्ध मे देखा तो जैनत्व के प्रति खेद ही हुआ कि–एक ओर तो हम मूक–पशुओ

तक के प्रति दयालु हो—दूसरो से उनकी रक्षा की अपेक्षा करे और दूसरी ओर अपनो मे हो रहे अनर्थों को रोकने मे उपेक्षा बरते?

हमने 'जैन शुद्ध वनस्पति का निदेशक जेल मे' हैडिग देखा, दहेज के माध्यम से जली या मरी बहुओ की चर्चाएँ सुनी और जैनो से अफीम बरामद होने जैसे समाचार भी देखे। ये तो कुछ प्रसग है। न जाने अब हम जैन नामधारियो मे ऐसी कितनी अनहोनी—होनी के रूप मे परिणत होगी? हमे इनका उपचार करना होगा।

हम देश—विदेश मे, जन—साधारण में धर्म प्रचार करने कराने का नारा देते है, यूनिवर्सिटी और कालेजो मे जैन चेयरो को चाहते है, गीता जैसा कोई जैन ग्रन्थ लिखाकर साधारण मे वितरण करने—कराने का स्वप्न देखते है। पर हमारे अपने घरो मे अधर्म की जो आग फैल रही है उसे बुझाने के उपाय नही करते। यह तो ऐसी ही विडम्बना है जैसे कोई पुरुष मद्यपान को बुरा माने और मद्यपायी की निन्दा भी करे। पर, अपने मद्यपायी पुत्र या सम्बन्धी को प्रश्रय दे उसका पालन—पोषण करता रहे उससे नाता न तोड़ सके। और जो धर्म की अपेक्षा अपने पुत्रादि को अधिक महत्त्व दे, या जो सिगरेट और शराब पर जहर के लेबल लगवाने का पक्षधर होकर भी उन्हे बेचता और उनके ठेके देता—लेता रहे।

आचारवान् पण्डित गण को देखकर हमे खुशी होती है कि हमारे और समाज के भाग्य से वे इस पद के योग्य है—बड़ा ही अच्छा है। पर, इतने लम्बे अर्से के बाद भी मुझे अपने को पण्डित कहलाने या लिखने—लिखाने की जुर्रत नही होती। यदि कोई मुझे पण्डित सबोधन देता है तो अपने पर शर्म जैसी महसूस होती है। आखिर, पण्डित तो वही होता है जो ज्ञान के अनुरूप आचरण भी करे। मै तो अभी मार्ग में ही लगने के प्रयत्न मे हू। जैन और जैनी के विषय मे भी मेरी यही धारणा है कि उसे—आचारवान् होना लाजिमी है—बिना आचार—विचार के जैन कैसा?

यदि अपने को जैनी कहने—कहाने वाले उक्त परिप्रेक्ष्य मे जैनी बन जाय तो अजैनो को भी जैनी बनते देर न लगे—जैन के प्रचार की चिन्ता

भी न करनी पड़े—स्वय ही प्रचार हो जाय। आखिर, तीर्थंकर भी किसी से जैन बनने को नही कहते। लोग उनके दर्शन कर (उनके आचरण रूप आदर्श से) स्वय ही जैन हो जाते है। उक्त प्रसग मे हम कैसे सच्चे जैनी बन सकते है और कैसे आदर्श आचरण की ओर बढ़ सकते है? जरा सोचिए!

क्या हम जैनी हैं?

सच्चे जैनी जिन भगवान है। अशत –प्रत्यासन्ननिष्ठ ऐसे भव्य भी जिनधर्मी है जो आत्महित–मोक्ष की चाह मे अतरग मे ससार से विरागी और "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" के खोजी है। जैसे–'कश्चिद्भव्य प्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिर्षण्मध्ये सन्निषण्ण मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्वपुषा निरूपयन्त युक्त्यागमकुशल परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्य निर्ग्रन्थाचार्य-वर्यमुपसद्य सविनय परिपृच्छति स्म। किन्नु खलु आत्मनेहितं स्यादिति? स आह–मोक्ष इति।"

अपने हित को चाहने वाला कोई एक बुद्धिमान निकट भव्य था। वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवो के विश्राम के योग्य किसी एकान्त आश्रम मे गया। वहाँ उसने मुनियो की सभा मे बैठे हुए, वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मोक्षमार्ग निरूपण करने वाले, युक्ति तथा आगम मे कुशल, दूसरे जीवो के हित का मुख्यरूप से प्रतिपादन करने वाले और आर्य पुरुषो के द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर विनय के साथ पूछा– भगवन्, **आत्मा का हित क्या है?** आचार्य ने उत्तर दिया–आत्मा का हित मोक्ष है।

जिन भव्यो की प्रवृत्ति सदा निवृत्तिरूप होती हो, जो घर मे वास करते हुए भी वनवासी जैसे हो, पानी मे रहकर भी अधर हो, कीचड़ मे भी निर्मल स्वर्ण जैसे हो। वे भी जैन है। अर्थात्–

'गेही पै गृह मे न रुचै ज्यों, जल में भिन्न कमल है।
नगर नारि को प्यार यथा कादे मे हेम अमल है।।'

हमें यह भी देखना होगा कि हम प्रशम, सवेग, अनुकपा, आस्तिक्य गुणो से पूर्ण है या रिक्त? रागादिक की शान्ति को प्रशम, ससार से भीरुता को सवेग, सर्व प्राणियो के प्रति मैत्री को अनुकम्पा जीवादि पदार्थों को उनके स्वभाव मे मानने की बुद्धि को आस्तिक्य कहते है।–'रागादीनामनुद्रेक प्रशम। ससाराद्भीरुता सवेग। सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। जीवादयोऽर्था यथास्वभावै सन्तीति मतिरास्तिक्यम्।'–

इसके सिवाय नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग जैनी के है। क्या कोई कह सकता है कि ये जैन मे न होगे? यदि जैन मे न होगे तो क्या ये सब अजैन मे होगे? यदि जिन वचन मे श्रद्धा न करने वाला, ससार विषयभोगो मे तल्लीन, दीन–दुखियो और साधर्मियो से ग्लानि करने वाला, मान बड़ाई मात्र के लिए 'गगा गए गगादास, यमुना गए यमुनादास' नीति को अपनाने वाला–चाहे जिस देवी–देव या गुरु को नमस्कार करने वाला, साधर्मियो के दोषो को उसे बदनाम करने के लिए उछालने वाला–विसवादी, धर्म से गिरते हुओ को एक और धक्का देने वाला, धर्म प्रभावना की आड़ मे अपनी प्रतिष्ठा का लोलुपी जैन होगा तो अजैन कौन?

हमे यह भी देखना होगा कि कही कोई किसी मद मे चूर तो अपने को जैन नही कह रहा? उसमे नीचे लिखे मदो मे से कोई मद तो नही। यदि किसी मे इन आठो मदो मे से कोई एक मद भी है तो वह अपने स्वरूप को नही जान सकता और ना ही उसकी ओर आ सकता है। आत्मा को न जानना और उस ओर आने का प्रयत्न न करना जैनी के रूप से सर्वथा विपरीत –मिथ्यादृष्टि के लक्षण है–

'पिता भूप वा मातुल नृप जो होय न तो मद ठानै।
मद न रूप को, मद न ज्ञान को, धन, बल को मद भानै।।
तप को मद न मद जु प्रभुता को करै न सो निज जानै।'

प्रतीत होता है कि आज बहुलता में जैन का उक्त रूप तो न रहा, पर जैन के रहस्य को किनारे रख किन्ही लोगो ने किन्ही राजनैतिक लाभो

को प्राप्त करने की दृष्टि से (भी) संख्या बढ़ाने–बढ़वाने के प्रयत्न चालू कर दिये। (हालाँकि सख्या बढ़ाने–बढ़वाने से अभी तक शायद ही कोई लाभ प्राप्त हो सका हो) वे ऐसे पुद्गल–कलेवरों की वृद्धि करने को जैन की वृद्धि मान बैठे। इसका जो फल हुआ वह हमारे सामने है। जैन जैसा रत्न, जो आत्मा का धर्म है, वह नश्वर शरीर–रूप जैसी मिट्टी का धर्म बनकर रह गया। ऐसे लोग किसी कुल मे जन्म लेने वाली मिट्टी की काया को 'जैनी' मानने लगे और असली जैन, जैनत्व भाव लुप्त होता गया। यानी जैन के सर्वथा विपरीत हीन आचरण वाले भी जैन कहलाने लगे। प० टोडरमल जी कहते है–"जो उच्चकुलविषै उपजि हीन आचरन करे, तो वाको उच्च कैसे मानिए? जो कुल विषै उपजने ही तै उच्चपना रहे तो मास भक्षणादि किए भी वाकौ उच्च ही मानो सो बनै नाही।' भारत विषै भी अनेक प्रकार ब्राह्मण कहे है। तहा जो ब्राह्मण होय चाडाल का कार्य करै ताकौ चाण्डाल–ब्राह्मण कहिए ऐसा कहा है। सो कुल ही तै उच्चपना होय तो ऐसी हीन संज्ञा काहेकौ दई?–मो०मा० २५८

ससार मे सबसे बड़े दु:ख जन्म मरण कहे है–अन्य सभी दु:ख इन्ही के होने पर होते है और इन्हीं दोनो के अभाव हो जाने का नाम मुक्ति है। विचारने की बात ये है कि इन दोनो दुखो मे कारण कौन है? जहाँ तक मरण की बात है हम उसमे आयु कर्म के क्षय को कारण कह सकते है, सो कर्म का क्षय होना कोई बुरी बात नहीं। कर्म के क्षय को जैन दर्शनकारो ने इष्ट ही माना है और इसके लिए ही सारे उपाय बतलाये है। हाँ, रही जन्म की बात, सो उसमें अन्तरग निमित्त आयु कर्म का उदय और बहिरग निमित्त मैथुनक्रिया है और ये दोनों ही जैन–दर्शन मे अनिष्ट कहे गए है। जहाँ तक कर्म का उदय है उसको हम छोड़ भी दे तो भी मैथुन तो अब्रह्म है ही और अब्रह्म को पाप कहा गया है–'मैथुनमब्रह्म।' सभी जानते है कि जीवो के जन्म लेने (शरीर धारण करने) में मैथुनरूप–पाप निमित्त बनता है और पाप के निमित्त से हुआ जन्म पुण्य कहलाए, यह बात समझ से बाहर है। जब हम यह कहते है कि जैन कुल मे जन्म लेना पुण्य पर

आधारित है तो पहिले तो जन्म ही पाप (बुरा–दु:खरूप) है, दूसरे जिसे हम जैन कुल कहते है वह जैन है कहाँ? जैन तो 'जिन' मे बैठा है–चारित्र शील व्यक्ति में बैठा है, पुद्गल काया मे 'जैन' कहाँ? एतावता जनसख्या बढ़ानै से जैन बढ़ जाते है यह बात सर्वथा अटपटी सी है। उक्त स्थिति मे भी लोग न जाने क्यों शरीर–पिण्डो की सख्या बढ़ाने को जैन की सख्या वृद्धि मान रहे हैं? यह आश्चर्य ही है।

जैनाचार्यों ने जहाँ पदार्थों का वर्णन किया है वहाँ उन्होने उनके गुण–धर्मों का भी वर्णन किया है। जब उन्होने आत्मगुणो के विकास की चरमावस्था को प्राप्त आत्मा को 'जिन और उनके धर्म को जैन कहा तब लोग इसे कुल मे प्राप्त शरीर मे कल्पित करने लगे। यानी आत्मा का धर्म–'जैन', पुद्गल–रूप हो गया अर्थात् जो इस समुदाय मे पैदा हो गया वह काया जैन हो गया।

यदि हम आत्मा के गुणो के आधार पर जैनत्व का निश्चय न भी करे और अधिक स्थूल व्यवहार मे जाकर ही देखे तब भी आज जैनो की सख्या नगण्य ही रहेगी। जैसे–देवदर्शन करना, रात्रि भोजन का त्यागी होना, छने जल का पीना, अष्ट–मूलगुणो का धारण करना आदि। ये सब ऐसे मोटे चिन्ह है, जिससे साधारण जैन की पहिचान की जा सकती है। पर, आज आलीशान सामिष होटलो मे रात्रि मे प्रीति–भोज आयोजन जैसे समाचार प्रमुख जैन पत्रो मे छपते रहे है।

आचार–विचार की दशा यह है कि रात्रि–भोजन त्याग आदि जैसे साधारण नियमो का पालन तो दर–किनार, गाहे–वगाहे अब तो जैनियो के कुछ अगो को बड़े–बड़े सामिष होटलो तक मे भी देखा जा सकता है। लोग अपनी आँखो से कई मान्यो को भी होटलो की सैर करते कराते, उनमे विवाह शादी रचते–रचाते देख रहे है। ऐसे मान्यो मे स्टेजो पर धर्म पर मर–मिटने की सौगन्ध खाने–खिलाने वाले कई मान्य भी शामिल है। जो लोग सामूहिक रात्रि–भोजन निषेध का प्रचार करते है, 'दिन मे फेरे,

दिन मे बारात' आदि जैसे नारे बुलन्द करते है, उनमे कई को रात्रि-भोजन करते और होटल की शादियो मे सम्मिलित होते आराम से देखा जा सकता है।

हमे लिखने में सकोच नही, अपितु सन्तोष है कि किन्हीं प्रबुद्धों के प्रयासो से आज हम जैन-नामधारियो ने यह तो महसूस किया है कि जैनों का ह्रास हो गया है-उनमे आचार-विचार नाम की चीज नहीं जैसी रह गई है, वे जैनी नही रह गए हैं। इसका जीता-जागता सबूत है-शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष का मनाया जाना। यह आयोजन हमारे गाल पर ऐसा तमाचा है जो हमे शर्मिन्दा करने के लिए काफी है, ऐसा इसलिए कि-जैनी नियम से शाकाहारी और श्रावक होता है। उसके लिए शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष मनाने की सार्थकता ही क्या? यदि ऐसा नही और वह मासाहारी बन चुका है तो वह जैन कैसे है?

हम तो तब भी शर्मिन्दा होते है, जब कोई विद्वान् वर्तमान जैन-सभा मे आकर वर्तमान जैनियो को शिक्षा देता है कि सप्त व्यसनो का त्याग करो, पॉच पापो का त्याग करो आदि। हम सोचते है कि वह जैनो को उपदेश दे रहा है या पापियो को तारने का प्रयत्न कर रहा है? क्योकि जैनी पापी नही होता और निष्पाप को ऐसा उपदेश नही होता।

यदि हम ऐसा मानकर चले कि शाकाहार वर्ष तो हम इतर समाज व देश के लिए मना रहे है। तो सवर के बिना निर्जरा कैसी? जब तक मछली उत्पादन मुर्गी पालन आदि जैसे मासोत्पादक केन्द्रो का निरोध न हो तब तक देश के लिए शाकाहार वर्ष की सार्थकता कैसे? पहिले तो उन स्रोतो को बन्द कराना चाहिए जो मासोत्पादन कर शाकाहार मे गिरावट ला रहे हैं। चाहे इसमे सरकार से भी लोहा क्यो न लेना पड़े? पर, बिल्ली के गले मे घण्टी बाधे कौन? फिर, आज जैनी भी तो पूर्णतया शाकाहारी नही रह गए हैं? मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू! उक्त स्थितियो मे क्या हम जैन है? जरा सोचिए।

ताला कब तक लगाया जायगा? •

हमने उन बछड़ो, बैलो और ऊँटो को देखा है, जिनके मालिक मुह पर छींके (खोच) बॉध देते है। ऐसा करने से जो बछड़े गाय का दूध पी जाते हो वे रुक जाते है। जो बैल और ऊँट अनाज खा जाते हो वे भी रुक जाते है। हालाकि ऐसा करना भी धर्म सम्मत नहीं। सभी जानते है कि तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे महान् को भी पूर्वभव मे ऐसे उपदेश देने के कारण ही तीर्थंकरभव मे छह मास निराहार घूमना पड़ा। कदाचित कोई व्यक्ति लौकिक उपयोगिता को समझ, किसी प्रथा का पोषण करे तो किसी अश मे कदाचित् मौन धारण किया जा सकता है, पर, जो व्यक्ति समाज के आचार और धार्मिक प्रवृत्तियो के ह्रास को देखते हुए भी आचार और धर्म के सरक्षण की प्रवृत्तियो मे रत्त–किसी व्यक्ति को मुह न खोलने दे और उसकी जुबान पर ताला लगाने–लगवाने के प्रच्छन्न या उजागर उपक्रम करे तो हम पीडा से कराह उठते है। हम नही समझते कि ऐसे लोग सही सुनना क्यो नही चाहते। सन्देह होता है कि कही वे दोषी तो नही।

आज समाज और धर्माचार का जैसा विकृत रूप उभर कर सामने आया है उसमे खरी बात सुनने से भयभीत होते रहने और खरो के मुह पर ताला लगाते रहने जैसे उपक्रम ही मूल कारण बने है जो धीरे–धीरे परिपक्व होकर सडे फोड़े की भॉति रिसने लगे है। पिछली कई घटनाये है कि जब किसी ने कुप्रथाओ और आगम–विरुद्ध–वर्तनो के विरुद्ध कोई आवाज उठाई, तभी कुछ तथाकथित लोगो ने उन्हे रोकने की चेष्टाए कीं। फलस्वरूप कुछ कुचले गए, कुछ मैदान छोड़ गए, कुछ समाज से छिटक गए और इस तरह न्यायमार्ग का ह्रास होता रहा। यदि लोगो मे तनिक भी सहनशीलता और विचार शक्ति रही होती तो वे किसी भी विरोधी की बाते सुनते सोचते और पूर्वाचार्यों के 'परीक्षा–प्रधानी' बनने जैसे अमूल्य वाक्यो पर अमल करते, तो समाज और धर्माचार की ऐसी दीन दशा न होती जैसी आज देखने मे आ रही है।

आज आम लोगो के मुख पर मुरझाहट है। जो धर्म की राह मे है वे अक्सर सहमे-सहमे से है। ध्यानी ध्यान करते, पुजारी पूजा करते और दुनियावी मनुष्य दुनियादारी मे घूमते हुए शकित और भयभीत है कि कही उसके मार्ग मे कोई रुकावट खड़ी न हो जाय। तेरापथी के लिए कोई बीसपंथी और बीसपंथी के लिए कोई तेरापंथी रुकावट खड़ी न कर दे। या कहीं कोई श्वेताम्बर किसी दिगम्बर के या दिगम्बरी किसी श्वेताम्बर के हक को हड़प न ले, हालाकि उनके दिलों मे परस्पर में स्व-सम्प्रदायियो के लिए भी कोई सम्मानित स्थान नही जैसा है-वे परस्पर में भी एक दूसरे की काट पर तुले है। ऐसा क्यो?

एक बार जब सोनगढ़ वालो की ओर से भावी तीर्थंकर के नाम से सूर्यकीर्ति जैसे कल्पित तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित हुई, तब हमने भी उसके अनौचित्य पर दो शब्द लिख दिए थे। जब काफी लोग सोनगढ़-साहित्य का खुलेआम बहिष्कार कर रहे है और पूज्य आचार्य धर्म सागर जी महाराज जैसे सन्त भी इसमे सहमत है, तब हमने उस विषय मे उसके बहिष्कार को पुष्ट न कर इतना सशोधन ही दिया था हम उसे 'कसौटी पर कसे'-यह बात आगम के सर्वथा अनुकूल है और आचार्योंकृत मूल-आगमागो की रक्षा मे भी समर्थ है। यत हम नही चाहते कि किन्ही प्रसगो से हमारे पूर्वाचार्यों कीं अवमानना हो। फिर भी हमे आश्चर्य है कि कुछ लोगो को परख की बात खटकी। जब कि हमारे पूर्वाचार्यों का निर्देश, उनके स्वय के कथनो को भी परख कर ग्रहण करने का रहा है-- परीक्षा प्रधानी होने का उनका आदेश है। कुछ लोगो ने हमे कहा कि आपको सपादक अनेकान्त के नाम से किसी खास नाम् को इगित नही करना चाहिए आदि। सो हम तो ऐसा समझे है कि आगम और अनेकान्त जन साधारण की आँखे खोलने के लिए है, किसी का आँख मीचकर तिरस्कार या सम्मान करने के लिए नहीं है और ना ही मौन रहने के लिए। हमने तो ऐसा खास कुछ नही लिखा है-परीक्षण की ही बात की है। जब कि न्यायप्रसग मे अनेकान्त और उसके सस्थापक मुख्तार सा० की नीति इससे भी कड़ी रही है और वे विपरीत प्रतिभासित होने वाली प्रवृत्तियो के खिलाफ सदा आवाज उठाते

रहे है। मुख्तार सा० ने अनेकान्त में ही (**स्व० कान जी स्वामी की जीवित अवस्था में**) 'समयसार की १५वीं गाथा और कान जी स्वामी' शीर्षक मे उनको लक्ष्य कर–विचारार्थ जो लिखा था, उसकी झलकी देखिए–

१. "कानजी स्वामी का 'वीतरागता ही जैनधर्म है'। इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनय के वक्तव्य का विरोधी है, वचननय के दोष से दूषित है और जिन शासन के साथ उसकी सगति ठीक नही बैठती।" अनेकान्त वर्ष १२ कि० ८ पृ० २७७

२ (**कानजी स्वामी का**) "सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्त की ओर ढला हुआ है, प्राय **एकान्त मिथ्यात्व** को पुष्ट करता है और जिन शासन के स्वरूप विषय मे लोगो को **गुमराह** करने वाला है। इसके सिवाय जिन शासन के कुछ महान स्तभो को भी इसमे 'लौकिक जन' तथा अन्यमती जैसे शब्दो से याद किया है और प्रकारान्तर से यहाँ तक कह डाला कि उन्होने जिनशासन को ठीक समझा नही।" वही, कि० ६ पृ १८०।

उक्त प्रसगो को देखते हुए हमने नीति और आगम सम्मत ही किया है। किसी पक्ष का नाम तो हमे प्रसगवश लेना पड़ा है–भक्तगण इसका बुरा न माने। हमे खुशी है कि कुछ प्रबुद्धो ने हमारे निष्पक्ष और साहसिक विचारो को सराहा भी है।–हम आभारी है।

इसी प्रसग मे एक बात और। सभी जानते है कि गणधर ने तीर्थंकर की वाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जैसे चार विभागो मे बॉटा और उक्त वाणी का सग्रह आगम कहलाया। जैन मदिरो मे इसी आगम को गद्दी पर और साधारणरीति से भी प्रवचन और स्वाध्याय के लिए स्थापित किया जाता रहा। पर, आज स्थिति ऐसी हो रही है कि आचार्यों कृत मूल शास्त्रो की भाषा–प्राकृत, सस्कृत आदि से लोगो का नाता टूट सा चुका है। वे प्रादेशिकी और हिन्दी आदि भाषाओ की ओर दौड पडे हैं। यहाँ तक कि उन्हे प० प्रवर टोडरमल जी और प० सदासुख जी जैसे मनीषियो की भाषा भी नही रुचती। वे आधुनिक

हिन्दी गद्य और काव्यमयी कृतियो को ही शास्त्र–जिनवाणी बना रहे है, मंदिरो में उनकी वाचना कर रहे है। फलत –मदिरो मे भी इन कृतियो की भरमार हो रही है और मूल गायब हो रहा है।

हमारे लिखने से, सबधित लोग रुष्ट भी हो सकते है पर लिखना तो हमे है ही। सो–इधर इस युग में, बहुत से अभिनन्दन ग्रथ भी प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। उनमें कई तो जिन मदिरों मे भी पहुच चुके है। यद्यपि ऐसे ग्रथ किसी अनुयोग मे नही आते फिर भी कुछ लोग इन्हे मदिरो मे चौकियो पर रख इनका वाचन करने लगे हैं। हमने जब एक प्रबुद्ध सज्जन को तथ्य बतलाया तो वे विस्मित तो हो गए, लेकिन बोले–इसमे आगम विरुद्ध तो कुछ भी नही है, आदि।

आशका है कि कभी ऐसे ग्रन्थ जिनवाणी का स्थान ही न ले ले। क्योकि साधारण जन की दृष्टि मे ये भी जिनवाणी की भॉति पूर्वापरविरोध रहित होते है। इन ग्रथो मे शलाका पुरुषो के चरित्रो की भॉति ग्रन्थ–नायक के (वह भी) प्रशसित–चरित्र मात्र का ही वर्णन होता है। उनमे कुछ धार्मिक, ऐतिहासिक और तात्विक कई लेख भी शामिल होते है। ये प्राकृत–सस्कृत जैसी क्लिष्ट मूलभाषा मे भी नही होते। पाठक इन्हे रुचि से और आसानी से पढ़ लेते है। उन्हे जैन से कोई विरोध भी प्रतीत नही होता। यानी उनकी दृष्टि मे इनमे चारो अनुयोग एक साथ ही उपलब्ध हो रहे होते हैं अत उन्हे ये सच्ची जिनवाणी ही है।

पर, इसे भलीभाति समझ लिया जाय कि जब कल्पित तीर्थंकर 'सूर्यकीर्ति की मूर्ति हमारे देखते–देखते–विरोध करते भी गाजे बाजे के साथ जोर–शोर से स्थापित हुई और हम उसे रोक न सके। विरोध मे सत्याग्रह का ऐलान करने वाले भी गायब रहे। कुछ लोग असफल होकर भी झेप मिटाने के लिए "ये हो गया, वो हो गया अब हम आगे यह करेगे, वो करेगे" आदि नारो से समाज को भ्रमित या आश्वस्त करते रहे। तब अभिनन्दनग्रन्थ आदि प्रच्छन्न रूप मे हमारी जिनवाणी के स्थान पर

विराजमान होकर भविष्य मे अभिनन्दन नायको को शलाका पुरुषो मे शामिल करा दे तो आश्चर्य नही। भले ही शलाका पुरुषो मे अभिनन्दित व्यक्ति के नाम का अभाव ही क्यो न हो? सूर्यकीर्ति का नाम भी तो तीर्थंकरो की सूची मे नही ही था। अत हमे कहने मे तनिक भी सकोच नही कि सभी असत् साहित्य की भाति अभिनन्दन ग्रन्थ आदि को भी मदिरों–शास्त्र भडारो से बाहर निकाला जाना चाहिए। लोग बुरा न माने और सोचे कि वे खरी बात कहने वालो का विरोध कब तक करते रहेगे–उनके मुह पर ताला कब तक लगाते रहेगे? क्या वे चाहते है कि सच्चाई का गला घोट दिया जाय! या उन्हें भय है कि सच्चाई का गला ना घोटने पर उनका व्यापार ठप्प हो जायगा? जरा सोचिए!

"जैन" का प्रयोग कहाँ?

आज कई लोग "श्रावक" और "जैन" दोनों दर्जों मे अभेद कर रहे हैं, जबकि दोनो दर्जे पृथक पृथक है। "जैन धर्म" जिन भगवान के स्व–धर्म से सबधित है। पूर्ण जय को प्राप्त कर लेने से 'अरहत'–'सिद्ध' 'जिन' है व जय के लिए मूर्तरूप मे प्रयत्नशील अपरिग्रही आचार्य, उपाध्याय और साधु "देश–जिन" है। कहा भी है–"जिणा दुविहा सयल देसजिणभेएण। खवियघाइकम्मा सयल जिणा। के ते? अरहत–सिद्धा। अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देसजिणा तिव्व कसायेदिय–मोह विजयादो?"

–धवला ९/४/१/१/१०

"जिन" दो प्रकार के है–"सकलजिन" और "देशजिन" घाति कर्मों का क्षय करने वाले अरहतो और सर्वकर्मरहित सिद्धो को "सकलजिन" कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियो की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को "देशजिन" कहा जाता है।

उक्त दोनो प्रकार के जिनो का धर्म "जैन" उन्हीं मे है। यत धर्मी से धर्म अलग नही होता और ना ही धर्म, धर्मी को छोड़ता है। इस प्रकार "जिन" ही "जैन" ठहरते है। उक्त परिप्रेक्ष्य मे जो ससारी, परिग्रही अपने

को "जैन" घोषित कर रहे हैं, वे शोचनीय है "जैन" की व्याख्या मे कहा गया है–

"जधजाद रूवजादं उप्पाडित केसमसुगं सुद्धं
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंग
मुच्छारभविमुक्कं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भव कारण जैण्ह।।"

–प्रवचनसार ३/५–६

जेण्ह–"जिनस्यसबधीद जिनेन प्रोक्त वा जैनम्।" –वही, तात्पर्य वृ

"सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैना – गणधरदेवादय इत्यर्थ।" –नियमसार ता वृ गा १३९

कविवर वृन्दानकृत छन्दोबद्ध प्रवचनसार भाषा मे लिखा है

"पर दर्वमाहि मोहममतादि भावनि को,
जहा न आरभ कहू निरारभ तैसो है।
शुद्ध उपयोगवृन्द चेतनासुभावजुत,
तीनो जोग तैसो तहाँ चाहियत जैसो है।।
परदर्व के अधीन बर्तत कदापि नाहि,
आत्मीक ज्ञान को विधानवान वैसो है।
मोक्ष सुखकारन भवोदधि उधारन को
अतरग भावरूप जैनलिग ऐसो है।।"

अर्थात् निर्ग्रन्थ, अपरिग्रही, लोच करने वाले, शुद्ध, हिसादि से रहित, सज्जा आदि क्रियाओं से रहित, मुनीश्वर का लिंग वेश जैन की पहिचान का वाह्य चिह्न है और ममत्वभाव व आरभ रहित, ज्ञानादि उपयोगो मे शुद्धता, उपयोग वशीकरणता, पर से निरपेक्षता और मोक्ष का कारण भूतपना रूप "जैन" का आभ्यतर चिह्न है। "जिन" से सबधित–जिन प्ररूपित सिद्धान्त भी "जैन" है। "सकलजिन" अर्थात तीर्थकरो के पादपद्मो मे रहने वाले गणधर आदि "जैन" है।

"जेणाण" पुणवयण "यह पद गोम्मेटसार कर्मकाण्ड गाथा ८९५ मे आया है। वहाँ "जैनो के वचन" जैसे कथन से अरहत व निर्ग्रन्थ मुनियो के "जैन" होने की पुष्टि होती है, क्योकि धर्म का विवेचन उन्ही के द्वारा हुआ है। इसी प्रकार जैन–नय, जैन–दर्शन, जैन–बच सभी मे "जैन" शब्द अपरिग्रही पचपरमेष्ठियो को इगित करता है, किन्ही परिग्रहियो को नही। तथापि–"भेद भूरि विकल्पजालकलित जैनान्नयात् नैगमात्।" –आचारसार १०/२८

"जैनदर्शनमेकमेवशरण जन्माटवी सकटे।।" –आचारसार १/२

"दूरासन्नसम निरुपम जैन वच पातु व।" –आचारसार १/९५

श्री समयसार कलश २६३ मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने जैन–शासन को अलघ्य कहा है। वहॉ भी जैन के शासन से जिनदेव के शासन का बोध होता है।

"एव तत्व व्यवस्थित्या स्व व्यवस्थापयन् स्वय।
अलघ्य शासन जैनमनेकान्तो व्यवस्थित।।"

इन्ही अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपायके २२५वे श्लोक मे "जैनीनीति" शब्द दिया है, उससे भी स्पष्ट होता है कि "जैन को सभी जगह अरहतो, परमेष्ठियो के लिए प्रयुक्त किया गया है, किन्ही परिग्रहियो के लिए नही, जैसा कि आज चल रहा है। यहॉ भी "जैनीनीति" से जिनेन्द्र की नीति का ही भाव है।

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्व मितरेण।
अन्तेन जयति जैनी–नीति र्मन्थाननेत्रमिव गोपी।"

उक्त परिप्रेक्ष्य मे प्रश्न यह उठता है कि यदि धवला मे निर्दिष्ट और अन्य प्रमाणो के आधार पर परमेष्ठियो तक ही "जैन" शब्द सीमित है तो "जिन" को देवता मानने वाले हम क्या कहे जाएँगे और सागार–धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका आदि के वाक्य "जिनो देवता येषा ते जैना" का क्या होगा?

उपर्युक्त प्रश्न के निराकरण में हमें प्राचीन परम्परा पर दृष्टिपात करना होगा और यह भी देखना होगा कि अपरिग्रही जय-शील "जिन" के प्रति प्रयुक्त होने वाला "जैन" शब्द ससारासक्त परिग्रहियो के लिए कैसे प्रयुक्त होने लगा।

जहाँ तक प्राचीन परम्परा का प्रश्न है, सो पहिले जिन भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म की परम्परा मे उसके उपासको के लिए समण, सावग, अणगार, आगार शब्द प्रचलित थे। सावग के लिए समणोपासग शब्द भी प्रचलित था। पर, धीरे-धीरे ये शब्द बिगड़ते गए और सावग (श्रावक) का स्थान सरावग, सरावगी जैसे शब्दो ने ले लिया-"सराक" शब्द भी बिगड़े शब्द का रूप है। बाद मे उक्त शब्दो का व्यवहार भी लुप्त हो गया और उक्त शब्द शास्त्रो की परिधि मे ही सीमित रह गए। तब इधर लोगो ने अन्य मतो की देखा-देखी उपासको के लिए "जैन" का प्रयोग चालू कर दिया, फिर चाहे वे उपासक भ्रष्ट ही क्यो न हो-सभी समुदाय रूप मे "जैन" कहलाए जाने लगे।

स्मरण रहे कि मत-मतान्तरो मे व्यक्ति की उपासना को प्रधानता है, शिव व्यक्ति को देवता मानने वाले को शैव, विष्णु व्यक्ति को देवता मानने वाले को वैष्णव, बुद्ध व्यक्ति को देवता मानने वाले को बौद्ध कहा जाता है-ऐसा प्रचलन है। उसी प्रकार इधर भी "जिन" के उपासको को "जैन" नाम दे दिया गया। पर, विचार की दृष्टि से यह ठीक नही हुआ। जैसे शिव, विष्णु, बुद्ध आदि देवताओ के नाम "नाम-निक्षेप" पर आधारित है-उनमे गुण, कार्य की विवक्षा नही क्योकि-"अतद्गुणिनि वस्तुनि सज्ञा करण नाम" इस नाम निक्षेप मे तो व्यक्ति नाम से विपरीत गुणो वाला भी हो सकता है। लक्ष्मीनारायण नाम वाले को कभी सड़क पर भीख मॉगते हुए भी देखा जा सकता है। फलत वहॉ किसी व्यक्ति का उपासक कोई व्यक्ति, नाम-निक्षेप से शैव, वैष्णव, बौद्ध हो सकता है, इसमे कोई अड़चन नही। पर, यह सब होकर भी उनका उपासक लाख प्रयत्न के बावजूद भी स्वय शिव, विष्णु, बौद्ध नही बन सकता-तद्रूप गुणो को प्राप्त नही

कर सकता। लेकिन जैन–दर्शन मे ऐसा नही है। यहाँ गुणो की मुख्यता होने से सच्चा उपासक "जिन" नाम और "जिन" जैसे गुण–धर्म दोनो प्राप्त कर सकता है। यत "जिन" नाम तो गुणो पर आधारित है। जय करने से "जिन" होते है–इस नाम मे गुणो की मुख्यता है और यहाँ गुणो की उपासना का विधान है। फलत –"जिन" के उपासक जय–गुण की ओर अग्रसर होने पर ही "जिन" और तद्‌गुण धारी "जैन" हो सकते हैं। इन्ही गुणो के कारण आचार्य, उपाध्याय, साधु को "देश–जिन" कहा गया है–पूर्ण जिन और "जैन" तो अरहत, सिद्ध ही है। यही कारण था कि यहाँ साधारण उपासको को "जिन" "जैन" नाम न देकर समण, सावग (श्रावक) सज्ञाए पृथक से निर्धारित की गई।

दुर्भाग्य कहिए या मत–मतान्तरो वत् कल्पित "जिनो देवता येषा ते जैना" इस परिभाषा के कारण समझिए, जो आज सर्व साधारण जयनशील क्रिया–गुण के बिना (अन्यो की भॉति नाम निक्षेप मे) अपने को "जैन" कहने लगे है। उनमे जो कुछ उपासक है उनमे भी अधिकाश "जिन" को व्यक्ति मान पूज रहे है–उनसे सासारिक मनौतियॉ माग कर भी जैन बने हुए है–उन्हे गुणो से कोई भी सरोकार नही। प्रकारान्तर से वे "जिन" को आज भी कर्त्ता माने हुए है। जरा सोचिए, ऐसा क्यो?

एक व्यापार : आत्मा को देखना दिखाना

एक नट अपने चेले को साथ लेकर किसी मैदान मे पहुँचा और ढोल बजाकर भीड़ इकट्‌ठी कर ली। भीड़ के बीच खड़े होकर उसने चेले को सबोधन दिया–जमूड़े, देख, मै जमीन मे लम्बा बास गाड़ता हूॅ, तुझे उस पर चढ़ना है। बोल तू चढ़ेगा? चेला बोला–हाँ उस्ताद, मै तैयार हूॅ। नट खाली हाथो खड़ा हो गया। वह बिना बास के ही जमीन मे झूठ–मूठ का बांस गाड़ने का ऐक्शन करने लगा। थोड़ी देर बाद उसने चेले से कहा–चेले, तू देख रहा है ये बास गड़ गया, अब तू इस पर चढ़ जा। चेला बोला–उस्ताद, यह बास तो बहुत ऊँचा है, बिना रस्सी बाधे मै कैसे चढ़ सकूँगा? नट ने जैसे खाली हाथो बास गाड़ने का ऐक्शन किया वैसे ही

रस्सी बाधने का ऐक्शन कर दिया और चेले से रस्सी पकड़ कर चढ़ने को कहा। देखते–देखते चेला भी ऐक्शन मात्र करके बांस के ऊपर पहुँच लेने की बात करने लगा हलाकि वह अब भी नट के पास जमीन पर ही खड़ा था वह नट से बोला–उस्ताद, मै बहुत ऊँचे आ गया, उतारो, मुझे डर लग रहा है। उस्ताद ने उसे ऐक्शन मे जमीन पर उतार लिया। लोगो ने यह सब मिथ्या स्वाग देखा और बोले यहाँ न बास है, न रस्सी है और न चेला ही चढ़ा उतरा, तू लोगो को धोखा दे रहा है। नट बोला– यहाँ सब कुछ है और सब कुछ हो गया, तुम्हे नही दिखा तो मै क्या करूँ? चेला बोला–उस्ताद, ये सब तो ऑख वाले ही देख सकते है, इनके तो ऑखे ही नहीं है, चलो और कही आँखो वालो मे दिखाएँगे। वे दोनो चले गए और भीड़ भी छट गई।

तो यह तो एक दृष्टात है। जैसे अरूपी आकाश दिखाई नही देता, पकड मे नही आता और नट उसमे बास गाड़ने, रस्सी बाँधने और जमूड़े को चढ़ाने–उतारने जैसे मिथ्या करतब दिखाने के मिथ्या–स्वाग भरता है वैसे ही कुछ लोग वर्षों से और आज भी जनता को अरूपी आत्मा को देखने–दिखाने की मिथ्या बातो मे भरमा रहे हैं। वे पूर्वाचार्यों की दुहाई देकर जोर–जोर से कहते है कि–ए भाई, तू आत्मा को देख, समझ आदि। जबकि आचार्य इससे सहमत नही। वे तो स्पष्ट कह रहे है कि आत्मा वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, अरूपी पकड़ मे नही आता–वण्ण रस पच गधा दो फासा अट्ठणिच्चया जीवेणो सति अमुत्ति तदा। "आत्मा तो" स्वानुभूत्या चकासते–अपनी अनुभूति से स्वय ही स्वय मे प्रकाशित है और होता रहा है। हॉ, जब तक पर मे लीनता है तब तक स्वानुभूति नहीं होती। भला, हो भी कैसे सकती है? जब तक ससारी जीव पर–परिग्रह रूपी विकारी भावो मे है तब तक आत्मोपलब्धि कैंसे? फिर आत्मोपलब्धि सुलभ भी तो नही है। अनादि ससारी जीव ने तो चिरकाल से काम, बन्ध, भोग की कथा की है और मलिन भावो मे सुखाभास को सुख रूप अनुभव किया है–

"सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्य वि काम–बध–भोग कहा।
एयत्तस्सुबलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।"

सो यह जीव बारम्बार उन्ही की ओर जाता है और असुलभ, एकत्व–विभक्त आत्मा में इसकी गति नही होती तथा ससार मे उलझे हुए वह हो भी नहीं सकती।

फिर भी, कुछ लोग नट की भाँति लोगो को मिथ्या भ्रान्तियो मे खीचने मे लगे है और स्वय भी नाटक कर रहे है। यदि लोग चाहते है कि उन्हे आत्मानुभूति हो तो पहिले उन्हें उन बाह्यपदार्थों की असलियत को पहिचानना होगा जो उन्होने अनादि से देखे, जाने और अनुभव किए है, पर गलत रूप मे। उनके गुण–स्वभाव को सम्यक् दिशा मे जानना होगा। जब वाह्य–पदार्थों की असारता, अशुचिता आदि का सही बोध होगा तब आत्मानुभूति स्वय हो जायगी–इसे अपरिचित, अरूपी, आत्मा को देखने–दिखाने की कोशिश न करनी पड़ेगी और पर पद से विरत हुए बिना इसे कुछ नही मिलेगा हमारे आचार्यों, तीर्थंकरो, महापुरुषो ने "स्व" की ओर दौड़ नही लगाई, पहिले वे पर से परिचित हुए, उन्होने बारह भावनाओ का चितवन कर "पर" की असारता को जानकर उन्हे छोड़ा, तब आत्मानुभूति मे अग्रसर हुए। वे जानते थे कि देखना, दिखाना, पकड़ना, पकड़ाना जैसे व्यापार सदा दूसरो से सबध के लिए होते है। स्वय को देखा और पकड़ा नही जाता, उसमे आया जाता है। यह "स्व" मे आना तब होता है जब पर से विरत हो।

जब हम चिर–परिचित परिग्रह की असलियत जानने और उसके छोड़ने की बात कहते है तो लोग मुह–भौ सिकोड़ते है। वे अहिसा आदि जैसी लौकिक प्रवृत्तियो की ओर दौडते है। वे जानते हैं कि जिस दुनिया मे वे हैं वह परिग्रह–मयी और स्वय परिग्रह है। उससे दूर होकर वे कहाँ जाएगे? इस दुनिया मे कोई उनकी बात भी न पूछेगा। उन्हे चिर–परिचित सासारिक भोग भी कहाँ मिलेगे, वे खाली जैसे हो जाएँगे, उनकी लौकिक और झूठी प्रतिष्ठा भी मिट्टी मे मिल जायेगी। यदि श्रोताओ के हाथ से वक्ता और

वक्ता के हाथो से श्रोता खिसक गए तो उनका अपना दिखावा–रूप व्यापार ही खत्म हो जायगा।

यद्यपि यह बात वक्ता और श्रोता दोनो ही जानते है कि लाख कोशिश करने पर भी अरूपी आत्मा उन्हे दिख न सकेगी, परिग्रह से विरत हुए बिना आत्मानुभूति न हो सकेगी। पर, फिर भी वे ससारासक्ति लिए, आत्मा को देखने–दिखाने के प्रचार जैसे व्यापारो मे लगे हैं और अधिक–परिग्रही रूप मे लगे है। ऐसा क्यो? क्या यह सच नही कि वे इस बहाने अपनी यश–प्रतिष्ठा के व्यापार को चमकाने और जो कुछ आवश्यकता से अधिक उन पर सचित है या होता है, उसे न छोड़ने के लिए कटिबद्ध है? पर ये सब विसगतियाँ है, इनसे विराम लेना चाहिए।

यदि किसी को वास्तव मे कल्याण करना है तो पहिले उसे "जैन" बनने का प्रयत्न करना होगा और जैन बनने से पहिले श्रावक बनना होगा, आचार का पालन करना होगा, ससार–शरीर–भोगो की असारता को पहिचान कर उससे विरत होना होगा। ऐसा कदापि नहीं है कि सपदा बढ़ाता रहे, भोगो मे डूबा रहे और आत्मा को देखने–दिखाने के गीत गाता रहे या "भरत जी घर ही में विरागी" जैसे स्वप्न देखता रहे–जैसा कि लोग आज कर रहे है। जरा सोचिए।

धर्म कैसे सुरक्षित रहेगा?

दिगम्बरो के आगमानुसार सात तत्त्व, नव–पदार्थ और छह द्रव्य सत्य है, उनके परिणमन के विभिन्न विधान यथातथ्य रूप मे सत्य है, इनका दिग्दर्शन कराने वाले केवली–सर्वज्ञ और गणधर आदि परम्परित पूर्वाचार्य–जिन्होने प्रमाण–नयो द्वारा इनके विधि–विधान का प्ररूपण किया, वे सत्य है। उनकी सत्यता में मूल कारण वीतरागता (लगाव राहित्य) और हितोपदेशीपन है। पूर्वाचार्य आग्रहमुक्त होकर वस्तु चिन्तन करते थे–उनके अतरग निर्मल थे। ये ही कारण है कि वे सदा प्रामाणिक रह सके। उनकी वाणी का एक–एक शब्द उनकी अन्तरग की आवाज होता रहा, जो आज तक प्रामाणिक और तर्क–कुतर्कों से पूर्ण अखण्डित चला आ रहा है।

कुन्दकुन्द, समतभद्र, विद्यानन्दि और स्वामी अकलंक जैसो के जीवन निर्मल थे, उनका ज्ञान परिपक्वता की सीमा पर था। उनके आचार–विचार मे कही कोई धब्बा न था। फलत वे तथ्य को उजागर कर सके। नि:सन्देह आज भी वैसे तत्त्वज्ञ हो सकते है यदि उनके कदम विरागता की ओर बढ़ते हो तो।

आज तथ्य यह है कि–दीक्षा के समय साधु मात्र साधु होता है–विरागी होता है। पर, भीड़ से घिर जाने के बाद जब जयकारो से घिरने और पुजने लगता है, तब अधिकाश मे 'अह' जागृत हो जाता है। ऐसे मे वह अपने को सर्वोच्च ज्ञाता तक मान बैठता हो तो भी आश्चर्य नही। फलत – उसकी दृष्टि से वह चाहे जो कहे, सभी सच माना जाना चाहिए। और भावुक या वाह–वाही लूटने वाले श्रावको के होते हुए, ऐसी उसकी सभी घोषणाओ के पोषण की कमी नही–सभी मानते और पुष्ट करते है।

स्मरण रहे–तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि त्रेसठशलाका के पुरुष व्यक्ति रूप होते है–सभी स्वतन्त्र। और परमेष्ठी पद व्यक्ति न होकर समष्टि रूप होते है–गुणाधार पर, जाति मात्र पर निर्भर। फलत –तीर्थंकर आदि की नामत तथा अरहतादि की समष्टि रूप मे–पदेन जय बोली जाती है। कही नही पढ़ा गया कि (नामश) अमुक अरहत की जय या (नामश) अमुक सिद्ध की जय आदि। ऐसी ही प्रथा शेष परमेष्ठियो की जय के विषय मे चाहिए यदि कही अपवाद रूप मे उल्लेख हो तो हमे पता नही। पर, आज इससे उल्टा चल रहा है। आज तो व्यक्ति ही आचार्य होता है, व्यक्ति ही उपाध्याय और व्यक्ति ही साधु। व्यक्ति की ही जय बोली जाती है। उसका 'अह' बढ़ाया जाता है, वह भी अपनी सुघड़–भलाई और उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिए। फलत –साधु अपने को बड़ा मानकर यद्वा–तद्वा प्रवृत्ति करने तक भी उतारू हो जाता है, जैसा आज हो रहा है।

ये जो मुनियो के फोटू छपाने, उनके बड़े–बड़े चित्र बाँटने की कु–प्रथा चल पड़ी है, इसने भी मुनि–सत्प्रथा को दूषित किया है। चित्रकार तो पहिले भी होते रहे है और अच्छे होते रहे हैं, पर उन्होने पूर्वाचार्यों व मुनियो

के कहीं चित्र बनाये हों, ऐसा देखने–सुनने में नहीं आया। यदि उनका कोई सत्य चित्र हो तो देखा जाए। आज तो वर्तमान मुनियो के चित्र अटैंशन हालत में खिचाए गये तक देखने को मिलते है–जिनसे मुनि में 'अह' ही जागृत होता है कहाँ तक कहें? हमने तो फोटुओ मात्र की किताबें तक देखी है।

आज विरोधी विचारधाराओ के व्यक्ति भी मुनियो से विरोधी बातो की पुष्टि के लिए आशीर्वाद प्राप्त करते तक देखे जाते है। वे प्रचार करते है–अमुक मुनि ने हमारे पक्ष की पुष्टि मे आशीर्वाद दिया। जबकि मुनि कभी किसी को श्राप तो देते ही नही–साधारणत सभी को आशीर्वाद ही देते है–आदि।

हमारा कहना तो यही है कि श्रावको द्वारा जयकारे, चित्र प्रकाशन, वितरण और स्वार्थ–पूरक आशीर्वाद प्राप्ति की प्रथाएँ समाप्त की जाएँ–तभी धर्म स्थिर रह सकता है। अखबारो, कैसिटो आदि के माध्यम से उनके प्रवचनो के प्रचार को भी रोका जाय। क्या? जिनवाणी वाक्य, धर्म–प्रचार के लिए कम है जो व्यक्ति को बढ़ावा दे पूर्वाचार्यों और जिनवाणी को पीछे धकेला जाय। जरा सोचिए। हमारी दृष्टि से धर्मान्ध तो सही मार्ग पर ना ही आ सकेगे। यदि आप उन्हे मना सके तो धर्म का सौभाग्य ही होगा और आपको भी धर्मलाभ।

क्या मूलमंत्र बदल सकेगा?

हमने मूल आगम–भाषा के शब्दो मे उलट–फेर न करने की बात उठाई तो प्रबुद्ध वर्ग ने स्वागत कर समर्थन दिया–सम्मतियाँ भी आयी। बावजूद इसके हमारे कानो तक यह शब्द भी आए कि–शब्दरूप बदलने से अर्थ मे तो कोई अन्तर नही पडा। उदाहरण के लिए 'लोए' या 'होइ' के जो अर्थ है वे ही अर्थ 'लोगे' या 'होदि' के हैं और आप स्वय ही मानते है कि अर्थ–भेद नही है–नमक, लवण, सेन्धव भी तो एकार्थवाची है–कुछ भी कहो। सभी से कार्य–सिद्धि है।

बात सुनकर हमे ऐसी बचकानी दलील पर हँसी जैसी आ गई। हमने सोचा—यदि अर्थ न बदलने से ही सब ठीक रहता है तब तो कोई 'णमो अरहताण' मत्र को 'अस्सलामालेकु अरहता' या 'गुडमोर्निंग टू अरहंताज भी बोल सकेगा—वह भी मूलमत्र हो जायेगा। क्या कोई ऐसा स्वीकार करेगा—जपेगा या लिखकर मदिरो मे टॉगेगा या इन्हे मूलबीज मत्र मानकर ताम्र यन्त्रादि मे अकित करायेगा? कि ये पद णमोकार मूलमत्र का है। क्योकि इनके अर्थ मे कही भेद नही है।

पर, हमने जो दिशा—निर्देश दिया है वह अर्थभेद को लेकर नही दिया—भाषा की व्यापकता कायम रखने और अन्य की रचना मे हस्तक्षेप न करने देने के भाव मे दिया है ताकि भविष्य मे कोई किसी रचना को बदलने जैसी अनधिकार चेष्टा न कर सके। क्योकि यह तो सरासर परवस्तु को स्व के कब्जे मे करके उसके रूप को बदल देने जैसा है ताकि दावेदार उसकी शिनाख्त ही न कर सके और वह सबूत देने से भी महरूम हो जाय।

हॉ, यदि कदाचित् कोई व्यक्ति किसी की रचना मे अशुद्धि या अशुद्धिका मिलाप मानता हो तो सर्वोत्तम औचित्य यही है कि वह लोक—प्रचलित रीतिवत्—किसी एक प्रति को आदर्श मानकर पूरा—पूरा छपाए और अन्य प्रतियो के पाठ को टिप्पण मे दे। जैसा कि विद्वानो का मत है। दूसरा तरीका है—वह पूर्व प्रकाशनो को मलिन न कर स्वय उस भाषा मे अपनी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ—रचना करे। क्या ठीक है? जरा सोचिए।

जैनाचार और विद्वान्

कोई समय था जब जैन—सस्कारो की अपनी अलग छाप होती थी, उसमे पले—पुसे और बड़े हुए व्यक्ति के आचार—विचार से लोग सहज ही जान लेते थे कि अमुक व्यक्ति जैन है। जैन मे सादगी, सन्तोष, दयालुता, सत्यवादिता आदि गुण स्वाभाविक स्थान बनाए रखते थे। धार्मिक आचार—विचार मे उसे नित्य देव—दर्शन करने व छना पानी पीने का नियम

होता था। उसे रात्रि भोजन, अभक्ष्य कन्दमूलादि भक्षण व मद्य–मास–मधु और सप्त व्यसनों का पूर्ण त्याग विरासत मे मिला होता था। जैन अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए उसे राज दरबार और राजकीय विभागों मे पूर्ण सम्मान मिलता था। बड़े–बड़े प्रतिष्ठित पदो पर सहज ही उसकी नियुक्ति होती थी। न्यायालय मे जैन की गवाही को सच माना जाता था। कोई भी जैन किसी अपराधी–सूची मे दिखाई नहीं देता था। उक्त सब गुणो के होने मे मूल–कारण जैनो के सस्कार थे। जैन बालक को जन्म से ही स्वस्थ–सात्विक वातावरण मिलता था और उसकी शिक्षा भी स्वस्थ होती थी।

सामाजिक व्यवस्था मे मुखिया या पच के चुनाव के लिए सर्वसाधारण के हाथ नही उठवाये जाते थे। अपितु पक्षपात रहित विश्वस्त कुछ प्रामाणिक पुरुष ही किसी प्रामाणिक योग्य पुरुष को बड़े पद पर बिठाने का अधिकार रखते थे। पूरा ध्यान रखा जाता था कि चुनाव बहुसम्मत न होकर सर्व–सम्मत हो। सभी अवस्थाओं मे सरपंच या मुखिया का निर्णय मान्य होता था। लोगो मे विनम्रता और आँखों मे लिहाज था। सामाजिक व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई व्यक्ति अभाव पीड़ित न होने पाए या कोई न्याय नीतिमार्ग से च्युत न हो जाय। अवसर आने पर सभी लोग मिल–जुल कर अभाव–ग्रस्त की सहायत्ता करते थे और मौन–रूप से उसके बोझ को अपने कधो पर उठा लेते थे। यही कारण था कि उनमे परस्पर गाढ़–सौहार्द्र था।

धार्मिक क्षेत्र मे सभी का सहयोग रहता था। विशेष धार्मिक अवसरो पर समाज के सभी पुरुष आबाल बृद्ध उत्सव, पूजन, विधान आदि मे सम–रूप से सम्मिलित होकर धर्मलाभ लेते थे और मुनिराज, व्रती, त्यागी तथा बिद्वानो की पूर्ण–सेवा भक्ति करते थे–उनकी वैयावृत्ति करते थे–आहारादि देने मे सावधान रहते थे। उनका उपदेश सुनते थे–उनसे व्रत–नियम आदि स्वीकार करके अपना जन्म सफल करते थे। इस भाँति सभी प्रकार की वैयक्तिक धार्मिक व सामाजिक व्यवस्थाएँ सुव्यवस्थित चलती

थी—धर्म की बढ़वारी होती थी। लोग यथाशक्ति धर्म ग्रन्थो का स्वाध्याय करते थे, उनमे कई तो धर्म—विषय के निष्णात विद्वान तक बन जाते थे। ऐसे विद्वानो से धर्म प्रभावना होती थी और लोगो के धार्मिक सस्कार भी दृढ़ करने मे सहायता मिलती थी। गुरु गोपालदास बरैया और उनके शिष्यगण इसी श्रेणी मे थे।

कालान्तर में जब इधर ज्ञानी मुनिजनो और विद्वानों का अभाव सा होने लगा तब लोगों मे धर्म के प्रति शिथिलता परिलक्षित होने लगी और इस बीसवी सदी के प्रारम्भ मे पूज्य प० गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि ने स्थान स्थान पर पाठशालाए और विद्यालयो के खुलवाने का यत्न किया और दर्जनो की नीव रखवाई। छोटी स्थानीय चटशालाये कई स्थानो पर पहिले भी चलती थी उनमे ऊँची पढ़ाई न कराकर बच्चो को सुसस्कृत बनाया जाता था। बड़े विद्यालयो के खुलने से ऊँची धार्मिक पढ़ाई की व्यवस्था बन गई लोग विद्वान बनने लगे।

शिक्षा सस्थाओ की स्थापनाये करते समय सस्थापको को यह तनिक ख्याल भी न आया होगा कि वर्तमान का विद्यार्थी भविष्य मे धार्मिक विद्वान बनकर दर—दर के याचको जैसा जीवन व्यतीत करने को मजबूर होगा। वे तो अनुभव करते थे कि ज्ञान का प्रचार—प्रसार स्व—पर दोनो को हितकारी होगा—वह ज्ञानी बनकर ज्ञान के बल पर सदा सिर—मौर बना रहेगा। वे नही जानते थे कि ज्ञानी मे भी कायरता का सचार होगा और वह इधर से उदास हो जायगा और समाज भी धर्म—सेवा के प्रति दगाबाज निकलेगा। इसे समाज का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा जो उक्त परिस्थिति ने विद्यार्थियो को धर्म शिक्षा से उदास कर पाश्चात्य की ओर मोड दिया और विद्यालय ठप्प हो गए। इस प्रकार धर्म और समाज दोनो को हानि का सामना करना पडा। कालेजो की शिक्षा के फलस्वरूप डॉ० व प्रोफेसर आदि आर्थिक दृष्टि से तो मौज मे है पर, उनका धार्मिक सस्कारों व समाज से उतना लगाव नहीं रहा जितना चाहिए। उनमें जो कुछ थोड़ा बहुत संपर्क समाज से रखे हुए है उनमे अधिकाश तो लौकिकता का निर्वाह ही कर रहे है या समाज मे उनकी उपेक्षा है।

इस प्रकार समाज अपने में खपने वाले सच्चरित्र, धर्मज्ञ विद्वानो से दिनो दिन शून्य होता जा रहा है। समाज को चाहिए कि वह विद्वानो के लिए नही तो कम से कम धर्म और सस्कारो की रक्षा के लिए ही विद्वान तैयार करे। लेकिन शर्त यह है कि ठोस विद्वान सम्मान से जी कर ही समाज मे खप सकेगा। आजकल विद्वानो के लिए समाज मे चिन्ता व्याप्त है, इसलिए कुछ लिख दिया है। उचित हो तो समाज को इस समस्या के सुलझाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

स्वागत की विडम्बना

स्वागत शब्द बड़ा प्यारा है। ऐसे बिरले ही व्यक्ति होगे जो स्वागत के नाम से खुश न होते हो, मन ही मन जिनके मनो मे गुदगुदी न उठती हो। प्राय सभी को इसमे खुशी होती होगी—भले ही दूसरो का स्वागत होते देख कम और अपना होने पर अधिक। स्वागत अब लोक—व्यवहार जैसा बन गया है जो नेता, अभिनेता या अन्य जनो का उत्साह बढ़ाने के लिए, उनसे कोई कार्य साधने के लिए भी निभाया—सा जाने लगा है। खैर, जो भी हो परम्परा चल पड़ी है—कोई स्वागत न भी करना चाहे तो उससे स्वागत कराने की गोटी बिठाने की। लोग गोटी बिठाए जाते है—कभी न कभी तो सफलता मिल ही जाती है और यदि न मिली तो मिल जायगी।

बड़प्पन का भाव व्यक्ति का स्वभाव—सा बन गया है। लोगो का बड़प्पन साधने के लिए जन—सभाओ मे ऊँचे मच बनाए जाते है—नेताओ को बड़प्पन देने के लिए मचो पर स्वय बैठकर अपना बड़प्पन दिखाने के लिए भी। आखिर, मच निर्माता इसी बहाने ऊँचे क्यो न बैठे? या अपने सहकर्मियो को ऊँचा क्यो न बिठाएँ? आखिर वे यह जो न कह बैठे कि बड़ा आया अपने को ऊँचा बिठा लिया, आदि। सो सब मिल बॉट कर श्रेय लेते है। किसी को कोई एतराज नही होता। आखिर, होते तो सभी एक थैली के चट्टे—बट्टे जैसे ही है।

हमने कई सभाओ मे ऑखो से भी देखा है—स्टेज पर अपनो मे अपनो से एक दूसरे को माला पहिनते पहिनाते, पहिनवाते हुए। और लोग है कि

नीचे बैठे इस ड्रामे को देख खुश होते–ताली बजाते नहीं अघाते– जैसे वे किसी लका को बिजय होते देख रहे हो। पर, हम नही समझ पाए कि इस व्यर्थ की उठाधरी से क्या कोई लाभ होता है?–केवल समय की बरबादी के।

उस दिन क्षमावाणी पर्व था। हमें एक क्षमा–उत्सव में जाने का प्रसग था सो हम गए। वहाँ लम्बा–चौड़ा ऊँचा स्टेज था जो हमारे पहुँचने से पहिले ही लोगो से भर चुका था। हम जाकर सहज ही (जैसा हमारा स्वभाव है) जनता के साथ नीचे बैठ गये। उत्सव के तत्कालीन प्रबन्धक कई नेताओ ने आग्रह किया–कई ने हमारे हाथो को पकड़ कर हमे उठाने का प्रयत्न भी किया–ऊपर मच पर बिठाने के लिए। पर हम थे कि टस से मस न हुए और नीचे ही बैठे रहे।

मगलाचरण और बालिकाओ द्वारा स्वागत गान गाने के पश्चात् मच पर विराजित कई लोगो को मालाये पहिनाने का क्रम चालू हुआ। अमुक ने अमुक को और अमुक ने अमुक को मालाये पहिनाई। तत्पश्चात् बोलने मे हमारा नाम पहिले पुकारा गया।

हमने कहा–कैसा पागलपन चल पड़ा है लोगो मे 'परस्पर प्रशसन्ति' का। आपस मे इकट्ठे होते है किसी कार्य को और समय बरबाद कर देते है किसी अन्य कार्यो मे–माला आदि पहिनाकर एक दूसरे का गुणगान करने मे। इकट्ठे हुए क्षमावाणी मनाने–परस्पर मे एक दूसरे से क्षमा याचना के लिए। पर स्वय ऊँचे बैठ गए और हमे भी ऊँचे बिठाने के आग्रह मे पड़ गए। भला, सोचा कभी आपने की क्षमा अपने को ऊँचा दिखाकर–बनाकर या ऊँचे बैठकर माँगी जाती है या नीचा (नम्र) बनकर? हम तो क्षमा माँगने आये है–धार्मिक उत्सव मे आये है–समानता के भाव मे। इसमे तो सभी बराबर होते है या नम्रभाव मे नीचे? पर, जब नेता तक स्वागत की बिडम्बना मे पड़ उल्टा मार्ग अपना बैठे हो तब जन–साधारण क्या करे? धार्मिक समारोहो मे त्यागी–व्रतियो को तो उच्चासन उचित है, माला आदि वर्ज्य होना युक्तियुक्त है। जबकि आज धर्म मे साधारण सी माला और उच्चासन के योग्य समझे जाने लगे है। तथ्य क्या है? जरा सोचिए।

नाम की महिमा आचार से

लोग रामनामी दुपट्टे को ओढ़ते है ताकि दूसरे उसे पढ़े और उसके बहाने उनके मुख से राम का नाम निकले। लोगो का श्रद्धान है कि राम का नाम लेने से बैकुण्ठ का टिकिट मिल जाता है–वहाँ सीट रिजर्व हो जाती है। महाकवि तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया कि–

'तुलसी अपने राम को, रीझ भजो या खीझ।
खेत पड़ा सब ऊगता, उल्टा सीधा बीज।।'

हम यह भी जानते है कि लगातार शीघ्रता मे उच्चारण करने में राम और मरा दोनो मे अभेद भी हो जाता है और लोक मरा के नाम से भयभीत होता है। पर, श्रद्धा ऐसी जमी हुई है कि लोग उसी को ठीक समझते है और उनके मन मे राम नाम की महिमा समाई हुई है।

जैन मत में नाम की महिमा तो है, पर वह गुणो के स्मरण से जुड़ी हुई है। णमो अरहताण बोलने का उतना महत्त्व नही जितना उस उच्चारण के साथ उनमे विद्यमान गुणो के स्मरण–वीतरागभाव के चिन्तवन का। यदि इन दोनो के साथ उनके गुणानुरूप आचरण भी हो तब तो 'सोने मे सुहागा' चरितार्थ हो जाय। इसी बात को ध्यान मे रखकर '**सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' सूत्र भी है।

आज लोग केवल नाम के पीछे पड़े है। उन्होने नाम की रटन लगा रखी है–रामनामी दुपट्टे की तरह। कही ऋषभ का नाम प्रचारित करेगे, कही महावीर की जय बोलेगे और कही कुन्दकुन्द के नाम की झड़ी लगा देगे। लोगो ने कुन्दकुन्द के नाम की धूम मचा दी, देश मे चारो ओर उनकी जय–जयकार करने की–उनके ग्रन्थो की भाँति–भाँति की व्याख्याएँ कर अपने मन्तव्य प्रचारित करने की–अपने नाम के लिए। शायद कइयो को इससे अच्छा अवसर और कौन–सा होगा नाम कमाने का? पर, इसके साथ ऐसे कितने हैं जिन्होने कुन्दकुन्द के बताए आचार का सहस्रांश भी पालन किया हो–कुन्दकुन्दवत् अन्तरग–बहिरग परिग्रह का त्याग किया हो।

गत दिनो एक विद्वान ने हमे प्रेरणा दी और हमसे अपेक्षा की कि हम अपनी प्रतिभा का उपयोग प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन, अनुवाद आदि में करे। भला, जब हम अकिंचन हैं तब जिनवाणी को पण्डितवाणी बनाने का दु साहस और पाप क्यो करे? फिर हमे नाम, यश अथवा अनुवादादि द्वारा अर्थ अर्जन करने–कराने मे आगम ज्ञान का उपयोग भी इष्ट नही। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जब हम पूर्वाचार्यों की अपेक्षा उनके सहस्राश भी ज्ञान नही रखते, तब उनकी कृतियो की व्याख्या–अनुवादादि लिखना–उन्हे दूषित करना ही होगा–उनसे अधिक ज्ञाता लिखे तो लिखे। हॉ, हम अपनी समझ से मौखिक खुलासा तो कर सकते है ताकि वह रिकार्ड न बने। आश्चर्य है कि लोग अपने को आगम–ज्ञाता मान उनके अनुसार स्वय तो न चले और उनकी व्याख्या या अनुवाद कर दूसरो को चलने का मार्ग बताए और यश, अर्थार्जन तथा नाम कमाने की होड़ मे कुन्दकुन्दादि के नाम को उछाल जिनवाणी को भी विरूप करे। स्मरण रहे–उद्धार नाम से नही, आचार और परिग्रह त्याग से हो सकेगा। जरा सोचिए!

अहिंसा के पुजारी रक्षा करें

जैनी सच्चा और जयनशील होता है। जैन आगमो मे जैनी की परिभाषा मे बतलाया गया है कि जो जिन देव का भक्त और जिनोपदेश के अनुसार चले वह जैनी है। प्रामाणिक पूर्व जैनाचार्य जैनी की परिभाषा मे खरे उतरते रहे है और इसीलिए वे जैन धर्म को सुरक्षित रखने मे समर्थ हुए है। आज जैसी स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है वह सर्वथा विपरीत है। न तो वैसे जैनाचार्य है और न ही वैसे श्रावक है। फलत जैनधर्म ह्रासोन्मुख है। लोग धर्म प्रचार का ढोल भले ही पीटते रहे पर ऐसे मे धर्म सुरक्षित नही रह सकता।

भला, जब आज मूल धर्म अपरिग्रह की उपेक्षा है, तब अहिंसा आदि धर्म भी कैसे पनप सकते है? आगम मे स्पष्ट कहा है कि पापो का मूल परिग्रह है। और इसीलिए आत्म–कल्याणार्थी को परिग्रह के त्याग का प्रथम उपदेश है। लोक मे मोक्षमार्ग के गमन के लिए भी प्रथम सीढी मुनित्वरूप

को स्वीकार करना बतलाया है– तीर्थंकर भी सर्वप्रथम परिग्रह से निवृत्ति लेते हैं और तब अहिंसादि महाव्रत धारण करते हैं। पर, आज तो लोग अहिसा का उपदेश पहिले देते है–परिग्रह परिमाण और परिग्रह त्याग पर उनका ध्यान ही नही है।

यही कारण है कि आज परिग्रह सर्वोपरि बन बैठा है और वही धर्म की जड़ को खोखला किये दे रहा है। आज किसी भी वर्ग को देखिये वह परिग्रह से ही जुड़ा हुआ है। और तो और, आज स्थिति ऐसी आ गई है कि घोर परिग्रही भी आत्म चर्चा मे लग रहा है और बाह्य वेष मे नग्न पुरुष आडम्बर और क्रियाकाण्ड मे रस ले रहा है। जब आचार्य कुन्दकुन्द सर्व परित्याग कर आत्मानुभव कर सके–समयसार के स्वरूप वर्णन के अधिकारी बने, तब कई नामधारी आत्मार्थी घोर परिग्रह से जकडे हुए, आत्मदर्शन मे लगे हो–वे कह रहे हो–तू आत्मा को देख, पहिचान, तो भी अचभा नही जबकि वे स्वय मे आत्मा से अजान और अन्तरग बहिरग दोनो प्रकार के परिग्रहो मे मोही तक देखे जाते है। यदि अत्युक्ति नही तो हम तो अब तक अधिकाश ऐसा देख पाये है कि आत्मा की चर्चा अधिकाशत लोग बाह्याचार की उपेक्षा करके भी कर रहे है और वह इसलिए कि इस चर्चा की आड़ मे उनका परिग्रह पाप छिपा रह सके और वे धर्मात्मा कहलाएँ। और यह फलित भी हो रहा है। अर्थात् जो चर्चा मन्द राग भाव मे करने की है उसे परिग्रही अपना बैठे है और बाहर से नग्न व्यक्ति परिग्रह के चक्कर मे फॅस गये है और कई श्रावक उन्हे फँसा भी रहे है।

क्या कभी आपने सोचा है कि–आत्मा को देखने–दिखाने, पकड़ने–पकड़ाने का प्रयत्न अन्तरिक्ष के पकड़ने–पकड़ाने के समान असम्भव है। पकड़ने के लिए बढ़ते जाने पर अन्तरिक्ष दूर–ही–दूर होता जाता है और कुछ हाथ नही लगता। जैसे अन्तरिक्ष अनन्त है वैसे आत्मा भी अपने गुण–स्वभाव मे अनन्त है। आत्मा का, आत्मा के गुणो का, सकोच–विस्तारण स्वभाव का कोई अन्त नहीं–यह सूक्ष्म भी है और लोकपूर्ण भी है। अन्तरिक्ष और आत्मा दोनो ही अरस, अरूप, अगन्ध है शब्द और स्पर्श से रहित

हैं–इन्द्रिय और मन के ग्राह्य नही। फलत: इनका साक्षात्कार निर्विकल्प और स्वानुभूति की दशा में ही सम्भव है और ऐसा राग–भाव की अनासक्ति मे होता है।

आत्मा के दर्शन करने कराने–पहिचानने पहिचनवाने और साक्षात्कार का जो मार्ग परिग्रही मनोवृत्ति मे अपना रखा है वह तीर्थंकरो और कुन्दकुन्दादि के मार्ग से सर्वथा विपरीत और बालू से तेल निकालने के प्रयत्न की भाँति है उससे परमार्थ लाभ नही, लाभ तो राग के कृश करने मे है।

तीर्थंकर की बाल्यावस्था मे भी वे बड़े–से–बड़े विद्वानो से भी बड़े ज्ञानवान् थे। शुद्धात्म–प्राप्ति के लिये उन्होने पहिले उन पदार्थों के स्वभाव का चिन्तन किया जो सामान्य जगत को भी इन्द्रियग्राह्य–रूपी और पर थे। इसीलिए उन्होने बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा पहिले पर–पदार्थों से विरक्ति ली। ससार के अनित्य, अशरण आदि स्वरूप का मुहुर्मुहु चिन्तन किया और उनसे विरक्त होकर दृष्टिगोचर बाह्य से निवृत्ति ली। बाह्य–निवृत्ति हो जाना ही तो स्वात्म प्रवृत्ति है। स्मरण रखना चाहिए कि रागी प्राणी की पकड आत्मा पर असम्भव है और वह इन्द्रियमन–ग्राह्य को ही, सरलता से पहिचान सकता है–उसकी असारता को जानकर उससे केवल विरक्त हो सकता है।

पर, आज उल्टे मार्ग पर चलने की कोशिश की जा रही है–अरूपी आत्मा को देखने–दिखाने, पहिचानने–पहिचनवाने की चर्चा चल रही है और साक्षात् दिखाई देने और इन्द्रिय गोचर होने वाले नश्वर पदार्थों की विरक्ति से मुख मोड़ा जा रहा है– परिग्रह का सचय किया जा रहा है। ऐसे मे आत्मा का अनुभूति मे आना कैसे सम्भव है? इसे पाठक विचारे।

हम तो जहाँ तक समझ पाए है वह यही है कि लोगो की परिग्रह वृत्ति ने आत्मचर्चा करने मे लगे रहने के बाद भी उन्हे आत्मा से दूर रखा है, यहाँ तक कि वे बाह्याचार को भी भुलावा मान बैठे है। यद्यपि वे व्यवहारिक सभी कार्य कर रहे है–पूजा प्रतिष्ठादि मे भाग ले रहे है–श्रावक और साधु

की पहिचान भी उनके बाह्याचार से कर रहे है। फिर, मजा यह है कि वे जिसे हेय बता रहे है, उसी से चिपके जा रहे हैं। अहिंसा का नारा दे, परिग्रह को आत्मसात् किये जा रहे है। अन्यथा इन वक्ताओ और वाचको से पूछा जाय कि इनके भाषण से कितनो ने आत्मदर्शन किये और कितने परिग्रह से मुख मोड़ गये?

तब तीर्थंकरो ने परिग्रह से मुख मोड़ा और अब सच्चे ज्ञानी लोग इन परिग्रहियो से भयभीत है कि कही ये परिग्रही उन्हे भी परिग्रही न बना दे? आखिर, इन परिग्रहियो ने लेने के साथ देने का धन्धा भी तो बना रखा है–ये लेते अधिक और देते कम है। ये देते है अपनी ख्याति और मान–बड़ाई के लिये। इन्होने अनेको साधु, सन्यासी और मोही–ज्ञानियो तक को खरीद रखा है–धन–वैभव और चादी के टुकड़ो को डालकर। अन्यथा, जैसी खिलवाड़ आज धर्म के नाम पर चल रही है, वह न होती–साधु और पडित धर्म के मूल अपरिग्रह के पाठ को पीछे न फेक देते।

हमे बड़ा अटपटा–सा लगता है जब हम आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि–सहस्राब्दी मनाने के ढगो को देखते है। कुन्दकुन्द के प्रति दिखावटी गुणगानो को देखते है और कुन्दकुन्द द्वारा बतलाये हुए मार्ग की अवहेलना को देखते है। जो आचार्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके है उन्हे लोग निष्फल ढो रहे हैं, उन्हे दूरदर्शन और आकाशवाणी तक ले जा रहे है–जैसे वे कुन्दकुन्द की ख्याति मे चार चॉद लगाते हो, खेद? भला, जो लोग स्वय को कुन्दकुन्द के उपदेशानुकूल न ढाल सके हो, उनकी बात न मानते हो, उन्हे क्या अधिकार है कुन्दकुन्द के नाम तक के लेने का? ऐसे विपरीत कार्य तो परिग्रह–सचय–दृष्टि ही कर सकते है।

बुरा न माने, क्या कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार–सहिता की अवहेलना कर, **नई आचार संहिता बनाने का प्रसग उठाना** ही द्वि–सहस्राब्दी मनाने की सार्थकता है? क्या, उक्त प्रस्ताव का अर्थ यह नही होता कि वर्तमान मुनि, शिथिलाचार के समक्ष अपने हथियार डालने को सन्नद्ध है और हम

जैसे–तैसे उन्हे समर्थन देने के मार्ग खोज रहे है? और वर्तमान मुनियो की दशा आज किसी से छिपी नही है–कही–कही तो घोर अनर्थ भी हो रहे है। क्या ऐसी दशा मे कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार सहिता को आगे लाना और मुनियो व श्रावको को तदनुरूप आचरण करने को मजबूर करना कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सार्थकता नही? जो नई सहिता बनाने का प्रस्ताव है? और कुन्दकुन्द की सहिता को पीछे किया जा रहा है, खेद।

कुन्दकुन्द ने समयसार रचा और आचार्य अमृतचन्द्र ने अमृतकलश। उन्होने 'स्वानुभूत्या चकासते'–आत्मा अपनी अनुभूति–अनुभव से प्रकाशित होता है ऐसा कहा। और आज आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग पर–परिग्रह मे लीन रहकर, उसके सहारे खोजा जा रहा है। प्रचार भी परिग्रह के बल पर किया जा रहा है–कही जल्से करके और कही साहित्य छपवाकर। किसी का भी ध्यान स्वानुभूति के मार्ग–पर निवृत्ति पर गया हो तो देखे, आत्मचर्चा वालो मे कोई मुनि बना हो तो देखे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही क्यो? अन्य सभी आचार्यों ने भी 'चारित्त खलु धम्मो' की पुष्टि की है और सभी ने स्वय तद्रूप आचरण किया–चारित्र की सम्पुष्टि के लिए परिग्रह का त्याग किया है। वे भली भॉति समझ चुके थे कि जब तक पर से निवृत्ति नही ली जायगी तब तक स्वानुभूति करने की बात व्यर्थ है।

काफी अर्से पूर्व आत्मज्ञान–समयसार वाचन का मार्ग हमारे समक्ष आया वह हमारा पुण्योदय था। तब लोग प्राय बाह्य क्रिया–काण्ड मात्र मे धर्म समझे हुए–एकागी थे और अब क्रियाकाण्ड से हट केवल आत्मार्थी रहकर एकागी हो गये है। शायद आज के मुनि २८ मूल गुणो के पालन को भी क्रियाकाण्ड मान बैठे है–जो उनके पालन से विमुख हैं। पर, स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो की एकरूपता को स्थान दिया गया है अकेले एक या दो को अपूर्ण माना गया है। फलत –कोरी आत्मा–आत्मा की रटन और साथ मे परिग्रह सचय की भरमार व्यर्थ है।

स्मरण रहे कि ऐसी थोथी बातो से न तो आत्मा मिलेगी और न ही सम्यग्दर्शन मिलेगा–इनकी प्राप्ति तो पर–परिग्रह की निवृत्ति और वैराग्य भाव से ही होती है तथा वैराग्य भाव दृश्य और अनुभूत नश्वर सामग्री के स्वरूप चिन्तन से होता है। फलत –पहिले बाह्य से निवृत्ति लेनी चाहिए, चारित्र धारण करना चाहिए, परिग्रह को कृश करना चाहिए तब आत्मचर्चा की सार्थकता होगी। परिग्रह से तो आत्मा का घात ही होता है–अहिसा के पुजारी इसकी रक्षा करे।

साधु बनना टेढ़ी खीर है

भव–सुधार के लिए वेष धारण करने की अपेक्षा मोह को कृश् करने की प्रथम आवश्यकता है–सब बन्धनो की जड़ मोह है इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने कहा है–"गृहस्थोमोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैवमोहवान्। अनगारो गृहीश्रेयान् निर्मोही मोहिनेमुने ।।"–निर्मोही गृहस्थ किसी मोही साधु से श्रेष्ठ है।

ऐसा सर्वथा ही नही है कि वर्तमान साधु उक्त तथ्य को न समझते हो–वे समझते भी है पर, कई की मजबूरी ये है कि वे इस तथ्य को तब समझ पाये, जब वे मुनि दीक्षा ले चुके। और ऐसा तब हुआ जब उन्हे मुनि–पद जैसी कठोर परीषहो से गुजरना पड़ा। और ठीक भी है कठोर परीषहो का सहना कोई खाला जी का घर तो नही, बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम है। पर, क्या करे जिनमत मे व्रत लेकर छोड़ देने का विधान भी नही है। वहॉ तो सॉप–छछूदर जैसी गति बन बैठती है, जिसे न निगले ही बनता है और न उगलते बनता है–बेचारे बीच मे लटके रहते है–'त्रिशकु'–न श्रावक और न मुनि। ऐसे व्यक्ति वेष से मुनि और आचरण से श्रावक जैसा परिग्रही जीवन यापन करने लगते है या उससे भी कम।

आपको ये जो मन्दिर मे दिखने वाले श्रावक है, उनमे कई ऐसे दिख सकते है जो सरल–स्वभावी, मद–परिणामी और श्रावक की दैनिक क्रिया में जागरुक हो और ऐसे मुनि भी जहॉ कही भी दिख सकते है जो मन

से भी परिग्रह के चारो ओर चक्कर लगा रहे हो। ऐसी बात नहीं कि सभी श्रावक और सभी मुनि शिथिलाचारी हों—कुछ मुनि कर्तव्य के प्रति जागरूक भी होगे। पर, वर्तमान के वातावरण को देखते हुए अधिकांशत· दोनो ही वर्गों मे शिथिलाचार अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारे साधुओं के शिथिलाचार मे श्रावको का भी बड़ा हाथ है। कुछ श्रावक जन स्वार्थ पूर्तियो के लिए भी साधुओ को घेरते है—कही मन्दिर, कही तीर्थों के चन्दो के लिये भी साधुओ का उपयोग किया जाता है · आदि।

साधु की निन्दा कई लोग करते देखे जाते है। पर, निन्दा करने से कुछ हाथ नही आयेगा। यदि श्रावकगण अपने मे सावधान हो और साधुओ का घिराव बन्द करे—उनसे पीछी का आशीर्वाद, कमण्डलु का पानी, गण्डा, ताबीज, मन्त्र—तन्त्र न मॉगे। बड़े—बड़े पण्डालो मे ऊँची स्टेजे बनाकर हजारो की भीड़ मे उन्हे न घेरे, तो साधु के अह को ब्रेक लग सकता है—वह अपने मे सावधान रह सकता है। कुछ समाचार पत्र भी साधुओ को उछाल कर उनके अह को बढ़ावा देते है। जब साधु समाचार मे अपने को आगे पाता है तो उसे यश का अह जागता है—वह पद से च्युत भी हो जाता है—सामाजिक उथल—पुथल और दूसरो के सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है।

आज जैनी समाचार पत्रो की दशा भी दयनीय है—प्राय सभी मे एक जैसे समाचार ही रहते है जैसे इसके सिवाय उन्हे छापने को कुछ और रह ही न गया हो। फलत—जनता के मन बहलाव को वे मुनियो की स्थान—स्थान पर उपस्थिति दिखाकर उनके आशीर्वादो की घोषणा का प्रचार भी करते रहते है और इससे मुनि के अह को पोषण मिलता है। पेपर वाले मुनि का आशीर्वाद ले, अपनी दुकानदारी जमाते हो, यह बात दूसरी है।

यदि सुधार अपेक्षित है तो सभी को एकमत होकर साधु सस्था को ठीक करना चाहिए। क्योकि आज मुनियो के शिथिलाचार के प्रति त्यागी

भी चिंतित है। श्री ऐलक सुध्यानसागर जी ने अभी जो विज्ञप्ति प्रकाशित कराई है वह ध्यान देने योग्य है। उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं–

"जितनी हमारी जैन सस्थाएँ हैं उनके पदाधिकारी गण मिलकर आजकल साधु मार्ग मे जो शिथिलाचार की वृद्धि हो रही है उसको दूर करने का प्रयत्न करें तो मूल सघाधिपति प०पू० १०८ अजितसागर जी का आशीर्वाद तथा आदेश लेकर प्रत्येक शिथिलाचार का पोषण करने वाले आचार्य साधुओ के पास पहुँचें, उनसे शान्ति से स्पष्ट कहे कि जो–जो आगम विरुद्ध क्रिया उनसे हो रही है, जैसे– एकाकी रहना, एक स्त्री साध्वी को रखना, चन्दा चिट्ठा करना, गडा–ताबीज बेचना, बस (मोटर) वाहन रखना, सस्था बनाके वही पर जम जाना, कूलर, फ्रीज, पखा, वी०सी०आर०, टेलीविजन आदि व जिनागम के विरुद्ध वस्तुओ का रखना तथा उपयोग करना एव जवान कन्याओ को साथ रखना, उनका ससर्ग करना, एकाकी साध्वी को बगल के कमरे मे सोने देना, इत्यादि धर्म–ह्रास क्रियाओं को अवश्य रोकना चाहिए। साम, दाम, दण्ड–भेद से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा रखते हुए अवश्य धर्म की सरक्षा करनी चाहिए।"

दिगम्बरत्व की रक्षा एक समस्या

किसी अक मे दिगम्बरत्व के प्राचीनत्व को दर्शाया गया है और वर्तमान समाज के समक्ष उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व है। यत वर्तमान काल मे उक्तरूप मे धीरे–धीरे शिथिलता आती परिलक्षित होती है और कही–कही तो उसके नियमो के पालन मे विरूपता भी दृष्टिगोचर होने लगी है। यदि ऐसा ही चलता रहा तब इसमे सन्देह नही कि दिगम्बरत्व की प्राचीनता पूर्णरूप से नवीनता का रूप धारणकर ले और दिगम्बरत्व का ऐसा वैभाविक (दोषपूर्ण) रूप ही भविष्य मे प्राचीन दिगम्बर कहलाए। यदि ऐसा होता है तो यह अवश्य ही उन श्रावको की धर्म के प्रति महान् कृतघ्नता होगी जो अपने सासारिक वैभवो की वृद्धि हेतु प्रकारान्तर से दिगम्बरो को विरुद्ध मार्ग पर चलने के साधन जुटाते रहे है और अब भी दूसरो को कहने

का अवसर देने का सामान कर रहे हैं कि ये दिगम्बर तो उनके देखते–देखते इसी काल की उपज है।

यह बात किसी से छिपी नही है कि कई बाह्य वेषधारी व्यक्ति आगमानुरूप आचरण का तिरस्कार कर मनमानी यथेच्छ प्रवृत्तियो मे लग रहे है और यदा–कदा समाचार पत्रों में भी ऐसे समाचार देखने मे आते है। यदि आचार मे मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्तियो मे विस्तार होता है तो यह धर्म–रक्षा के प्रति अत्यन्त चिन्तनीय होगा।

जब हमारे पूर्वजो ने हमे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी के दिगम्बर रूप के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त कराया था वह सच्चा दिगम्बर रूप था। तब आज हम अपनी भावी–पीढ़ी को आज के कतिपय ऐसे दिगम्बर दे रहे है, जो कुन्दकुन्द के वचनो की अवहेलना कर, सुख–सुविधायुक्त स्थानो को चुनते है, एकान्तवास (विविक्त शय्यासन) न कर भीड़ से घिरे रहते है। कुछ तो धर्म प्रचार या सस्था आदि के नामो पर चन्दा–चिट्ठा करा अपनी अयाचिक वृत्ति को भी लाछित करते है, आदि। ऐसे मे हमारी भावी पीढ़ी भविष्य मे अवश्य कहेगी कि हमारे बुजुर्गों ने हमे ऐसे ही दिगम्बर दिए और ये ही सच्चे गुरु के रूप है, आदि।

सोचिए, उक्त स्थिति मे क्या हम दिगम्बरत्व के उस प्राचीन रूप को खो न देगे जो ऋषभ और भगवान महावीर का है? ऐसे मे क्या हम कह सकेगे कि हमारा आगम–विहित प्राचीन दिगम्बरत्व रूप यही है?

स्मरण रहे कि आज के कुछ नवयुवक और वयस्क भी बड़े सावधान है। वे बातो को गहराई से सोचते है। उस दिन बाहर से पधारे कुछ युवको ने हमे घेर लिया और चर्चा करने लगे कि–कोई–कोई मुनिराज एक ही शहर मे वर्षों डेरा क्यो डाले रहते हैं, जबकि कहा जाता है कि 'पानी बहता भला और साधु चलता भला।' वे बोले–आचार्य विद्यासागर जैसे कुछ मुनि तो ऐसे भी है जो यदा–कदा ही अल्पकाल के लिए शहरो मे जाते है–साधारण स्थानो मे ही अधिक भ्रमण करते हैं। और भी उनकी शास्त्र–विहित बहुत सी क्रियाओ का उन युवको ने वर्णन किया।

हमने कहा—शहरो का वातावरण अधिक दूषित होता है बनिस्बत देहातो और कस्बो के। ऐसे मे जो साधु अधिक ज्ञान और परोपकार की भावना रखते हो वे जन—सुधार के लिए यदि शहरो मे डेरा डाले रहे तो जनता का लाभ ही है—सुधार ही होता है।

वे बोले—यदि ऐसा है तब तो आप ही बताइए कि पहिले जिस शहर मे श्रावक के साधारण नियम (रात्रि—भोजन त्याग जैसे नियम) पालको की जितनी सख्या थी, उन शहरो में इनके रहने से उस सख्या मे कितनी वृद्धि हुई? ऐसे ही अन्य धार्मिक आचार पालको की सख्या भी देखिए। हमे तो उस सख्या में वृद्धि के स्थान पर ह्रास ही अधिक दिखा, उल्टे श्रावको मे शिथिलता की बढ़वारी दिखी। यह कैसा प्रचार जहाँ पछाड़ श्रोता हो और आचार के नाम पर शून्य।

वे आगे बोले—प्रचार मनमोहक भाषणो की अपेक्षा स्वय।ग्य शास्त्रविहित आचार के पालन से अधिक होता है। और वास्तव मे जब आचार मे सुधार न हो तब प्रचार का क्या महत्व? यदि लम्बे भाषणो से ही धर्म—प्रचार होता तब दिगम्बरो की मूलगुण गर्भित 'भाषा—समिति' मे मित (अल्प) के स्थान पर अति बोलना होता। पर, ऐसा नही है। वे बोले—हम तो इसमे उन श्रावको को ही दोष का भागीदार मानते है जो दिगम्बरत्व की सेवा मे भी व्यापारिक मनोवृत्ति बरतते है। वे धतूरे का फूल चढ़ाकर महादेव से अटूट धन—सम्पदा चाहने जैसे वरदान की भाँति, परिग्रह त्यागी नग्न दिगम्बरो को अपने निवासो की पवित्रता और भाग्यश्री—वृद्धि जैसे आशीर्वादो की चाह मे निर्मोहियो पर भी मोहजाल फेंकते है और उनके साथी यह सब देख मौन सहमति देने मे लगे रहते है। ऐसे लोगो के परस्पर ऐसे व्यवहार से कभी कभी ऐसा सन्देह होने लगता है कि ऐसे लोगो को मानो धर्म—श्रावक और मुनि की क्रिया से कोई प्रयोजन न हो और जयकारे और माला प्रदान कराने जैसे कोई मानसिक भाव जगे हो, तब भी आश्चर्य नहीं, आदि।

हमने कहा–उक्त सच्चाई सर्वथा सन्देहास्पद ही है। पर यदि यह सच हो तो चिन्तनीय अवश्य है। यदि दिगम्बरत्व के पूर्व प्राचीन रूप मे स्थिरता नही आती तो दिगम्बर और दिगम्बरत्व न बचेगे और लोग हाथ मलते रह जायेगे। और हाथ मलना भी कहॉ? जब बॉस ही नही तो बॉसुरी किसकी बनेगी। और बजेगी भी क्या? सब शून्य मौन होगा, न दिगम्बर जैन होगा और न इस धर्म के पालक दिगम्बर जैनी ही। आज तो कुन्दकुन्द–विहित आचार भी बदला जा रहा है। दिगम्बरचर्या कहॉ और कैसी होनी चाहिए, इसे सोचे। हम श्रावक अपने आचार मे कही पाप के पुज तो नही हुए जा रहे इसे भी गहराई से सोचे और अपने खान–पान आदि मे भी श्रावकोचित कार्य करे।

अपरिग्रह की जीवित मूर्तियों की रक्षा

हमने कब कहा कि–जो विचार हम दे उन्हे लोग माने? तथ्य को न मानने का तो लोगो का स्वभाव जैसे बन बैठा है। भला, जब लोगो ने तीर्थंकरो के बताए अपरिग्रह मार्ग की अवहेलना कर उस मार्ग पर अनुगमन न किया, परिग्रह जुटाने मात्र मे लगे रहे, तब हम किस खेत की मूली है, जो उन्हे अपनी बात मनवा सके? खैर, लोग माने न माने फिर भी हमे तो अपनी बात कहना ही है, अस्तु। हम अपरिग्रह के विषय को ही आगे बढा रहे है और पुन लिख रहे है कि यदि लोग परिग्रह–परिमाण न कर सके तो न करे, पर, अपरिग्रह की जीवित मूर्तियो को तो तीर्थंकर मार्ग पर चलने दे, उनको मार्ग से च्युत करने के साधन तो न जुटाएँ। स्मरण करे कि–वह कौन–सी शुभ घड़ी रही होगी जब उन्होने परिग्रह से मुँह मोड़, इस दिशा मे पग बढ़ाया होगा–नग्न होकर परीषह सहने और ममत्व–त्याग के भाव मे कच–लोच किया होगा। यदि हम उन्हे आदर्श–मुनि, त्यागी बने रहने मे साधन बन सके, उन्हे शिथिल न करने जैसे साधन जुटाते रहे, तो जिन–धर्म का अपरिग्रही–वीतरागी मुनि–मार्ग सदा–सदा अक्षुण्ण रह सकेगा तथा उसके सहारे लोग भी जैनी बन या बने रह सकेगे।

मानव बड़ा स्वार्थी बन गया है। अपने स्वार्थपूर्ति के मार्ग मे कुछ लोग अन्यों की गरिमा या उनके पदो तक का ख्याल नही करते। जैसे भी हो वे उनसे सासारिक भोगो की कामना रखते है दिगम्बर त्यागियो को भी घेरे रहते है और वहाँ भी अपनी यश-प्रतिष्ठा कायम रखना चाहते है, आखिर क्यो न हो? वे भी तो उन्ही स्वार्थी मानवो मे से है, जिन्हे मानव सबोधन देते भी लज्जा आती है। भला, कहाँ का न्याय है कि लोग अमानवीय कृत्य करते रहे, मान्यो और पूज्यो को गिराने के साधन जुटाते रहे और मानव कहलाएँ?

हमने पहिले इशारा किया था वह जीवित, धर्म-मूर्तियो की अक्षुण्णता के मार्ग मे था। हमने लिखा था-'मुनि श्री के बहाने हम ऐसी किसी भी सस्था के खडे करने के पक्ष मे नही, जिसमे अर्थ सग्रह करने या उसके हिसाब के रख-रखाव का प्रसग हो। हम तो मुनिश्री को प्रचार के साधनो-टेप रिकार्डर, माइक, वीडियो और मच आदि से भी दूर देखना चाहते है। हम चाहते है कि-मुनिश्री का घेराव न किया जाए। यदि उनसे कुछ धर्मोपदेश सुनना हो तो उनके ठहरने के स्थान पर जाकर ही सुना जाय। मुनिश्री का जयकारा करना-कराना उन्हे समूह की ओर खीचना उन्हे मार्ग से च्युत करने जैसे मार्ग है। इनसे साधु का अह बढ़ता है, यशलिप्सा होती है, राग-रजना होती है, और वह जिसके लिए दीक्षित हुआ है उस स्व-साधना से वचित रह जाता है, पर-सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है आदि।

अभी-अभी हमे एक पत्र मिला है जो एक प्रतिष्ठित सभ्रान्त ज्ञाता का है और जो मुनिभक्त भी है। पाठक देखे कि आज अवस्था कितनी शोचनीय बन गई है? वे लिखते है-

"अब तो त्यागीवृन्द (क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि) नई-नई सस्थाएँ बनाते जा रहे है तथा किसी मुनि के साथ रहकर उनके नाम और प्रभाव से खूब चन्दा बटोरते है लोग तो कहते है कि घर को भी भेजते हैं, सघ मे जो सचालिका नाम के जीव है; वे चौके लगाती है, आहार दान वसूल

करती है और उनके चौके मे जो आहार देना चाहे वे २१/– या ३१/– अर्पित कर सकते है।" उन्होने यह भी लिखा है कि उन्होने "जो बाते लिखी और कही है वे सुनी हुई नही, आँखो देखी है अत सूर्य की धूप की तरह सत्य है" वे लिखते हैं–हमारे कुछ मान्य विद्वान् इन सब बातो की अनदेखी करने के पक्ष मे हैं, वे उपगूहन पर तो जोर देते है किन्तु न जाने क्यो, स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील नही होते।'

हम उक्त पत्र का लम्बा–चौड़ा क्या उत्तर लिखते? हमने तो उनसे साधारण निवेदन कर दिया कि–आश्चर्य है कि आप अभी भी ऐसे लोगो को मान्य–विद्वानो जैसे सबोधन से सबोधित कर रहे है, जबकि वे ऐसे कृत्य करके न मान्य रहे और न ही विद्वान्। यदि वे मान्य–विद्वान् होते तो स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील होते। पर, होते कैसे? शायद स्थितिकरण से उनकी दक्षिणा और चन्दा–चिट्ठा के मार्ग की क्षति हो जाती होगी–अवश्य ही वे अर्थी होगे। मुनि के मुनि पद मे स्थितिकरण होने पर मुनि उनकी दक्षिणा और उनके चन्दा–चिट्ठा मे कैसे सहायी हो सकते। अस्तु! उक्त बाते धर्म–रक्षा मे कहाँ तक समर्थ हो सकती है? जरा सोचिए!

विद्वानों की रक्षा और वृद्धि

"पडित और मसालची, ये समान जगमाहिं।
औरन को दें चाँदना, आप अँधेरे माँहिं।।"

उक्त दोहा हमे किसी ने लिखा है। हमे सतोष है कि किसी ने तो वास्तविकता को समझा। वरना, इधर तो निम्न दोहे का अनुसरण करने वाले ही अधिक सख्या मे दिखते है–

'कर फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।'

और तब हम सोचते है–

'रे गन्धी मति–अध तू अतर दिखावत काहि।।'

हॉ, यह बिल्कुल ठीक ही तो है कि मसालची और सच्चा पडित दोनो की उदारता की समता नही–दोनो ही स्व–लाभ न लेकर दूसरो को

लाभान्वित करने मे अपना और आश्रितों का पूरा जीवन तक बेबसी और भटकन मे गुजार देते हैं और फिर भी उन्हे भर्त्सना के सिवाय कुछ नही मिलता। सच भी है, जब वे मति–अध गधी की भाँति अपनी ज्ञान–रूपी गन्ध अनाड़ियो मे बाटते फिरे, तब नतीजा तो यही होना था।

हमने किसी से कहा था कि जिस दिन समाज के बीच से पडित और त्यागी उठ जायेगे (पडित तो प्राय उठ रहे है और त्यागियों को कुछ श्रावक उठाने के जबरदस्त प्रयत्न मे है) उस दिन समाज को कोई नही पूछेगा। आज जो लोग गर्व से अपने को जैन घोषित कर रहे है, उनकी आगे की पीढ़ियाँ अवश्य ही अपना मुँह छिपा अपने को जैन लिखना तक बन्द कर देगी, ऐसी सम्भावना है। पडितो और त्यागियो को ही यह श्रेय प्राप्त है, जिसके कारण आज धर्मक्षेत्र मे साधारण से साधारण व्यक्ति भी सरेआम सिर उठाकर 'जैन धर्म की जय' बोलता नजर आता है। वरना–

हमे वह समय भी याद है और देखा है–जब जैनियो को सरे–आम नास्तिक कहा जाता था और बात–बात मे ललकारा जाता था कि वे अपने धर्म के सिद्धान्तो की प्रमाणिकता सिद्ध करे। और जैनी थे, कि अपने को पग–पग पर सहमा–सहमा जैसा महसूस करते थे–निराश होते थे। ऐसे मे पडितो के एक सगठन की ही सूझ–बूझ और हिम्मत थी, जिसने अपने स्वार्थो को ताक मे रख जगह–जगह शास्त्रार्थ करके धर्म का उद्योत किया और जैनियो को चैन की साँस लेने के योग्य बनाया। यदि सबूत लेना है तो पूछिए–परलोक मे जाकर स्व० प० मगलसेन जी वेदविद्या–विशारद से, प० राजेन्द्रकुमार जैन से, प० अजितकुमार शास्त्री से, प० तुलसीराम जी काव्यतीर्थ से, प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ से और वीधूपुरा–इटावा के ब्र० कुवर दिग्विजय सिह जी आदि से और मध्यलोक मे जाकर पूछिए–दि० जैन संघ मथुरा की फाइलो से (यदि हो तो) कि कैसे समय पर पडितों ने धर्म–रक्षा और प्रभावना के लिए क्या किया? स्व० गुरुवर्य प० गोपालदास वरैया व स्व० प० मक्खनलाल जी मुरैना से भी जाकर पूछिए।

जब विश्वनाथ नगरी काशी मे जैन--ग्रन्थो का सरे आम अपमान होता था, तब पडित--त्यागियो ने क्या किया, उन्होने कैसे जैन आगम की रक्षा और महत्ता--प्रकाश का मार्ग खोला? यह पूछना हो तो स्वर्ग मे जाकर पूछिए पू०क्षु० प० गणेशप्रसाद जी वर्णी से बाबा भागीरथ जी वर्णी से और पूछिए वहॉ के बाद के कार्यकर्ता ब्र० सीतलप्रसाद जी से कि कैसे इन सबने वहॉ विद्या के अध्ययन के लिए स्याद्वाद महाविद्यालय खोला?

हम फिर लिख रहे है कि--अपने श्रावक पद की गरिमा रखिए, त्यागियो को परिग्रह के चक्कर मे न फॅसाइए और उनके नाम पर नाजायज लाभ भी न उठाइए। फिर वह लाभ यश--सबधी हो या अर्थ--सबधी ही क्यो न हो? दोनो ही लाभो के लोभ का त्याग करिए। विद्वानो की वृद्धि और रक्षा करिए, त्यागियो का स्थितिकरण करिए और जो शुद्ध है उन्हे शुद्ध रहने दीजिए और निम्न दोहे के विषय मे गहराई से सोचिए, जरा ठण्डे दिल से--

"पडित और मसालची, ये समान जगमांहिं।
औरन को दे चॉदना, आप अँधेरे मॉहि।।"

तीर्थ--क्षेत्र रक्षा

तीर्थ धर्म को कहते है और धर्म है वीतरागता व अपरिग्रहरूप। और क्षेत्र स्थान को कहते है जो है परिग्रह का एक भेद। कैसा बेजोड़ जोड़ है तीर्थ और क्षेत्र का? ऐसे बेजोड़ जोड का जोड़ बिठाना बडी हिम्मत का काम है और तीर्थंकरो ने इसे बिठाया--क्षेत्र को भी तीर्थ रूप कर दिया--भूमि भी धर्मरूप मे पूजा को प्राप्त हुई। क्षेत्र भी लोगो को तीर्थरूप मे अनुभूत हुए--वहॉ जाकर उनके भाव भी बदलने लगे। ठीक ही है--वह चन्दन ही क्या जो अपनी बास से अन्यो को सुवासित न करे? वरना, तत्त्व--दृष्टि से तो यह कार्य अशक्य और असभव ही था--धर्म और परिग्रह (क्षेत्र) को एक साथ बिठाना, जो तीर्थकरो ने किया।

जब अर्से से लोगो ने तीर्थक्षेत्रो को रक्षा की बॉग दी है और आज यह कार्य जोरो पर है, तब उक्त स्थिति मे हमे आचार्य समन्तभद्र का 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' याद आ रहा है। भला धर्मात्माओ के बिना धर्म कहॉ सुरक्षित रहा है? धर्मरूप तीर्थंकर, क्षेत्रो को धर्मरूप बना सके, परपरित मुनि–श्रावक तीर्थ और क्षेत्रो की रक्षा मे समर्थ हुए, पर, आज तो इन दोनो श्रेणियो मे ही आचार–विचार दोनो भॉति ह्रास है, तब धर्म और क्षेत्रो की रक्षा कैसे होगी? यह गम्भीर प्रश्न बन गया है। हमारा ख्याल तो ऐसा है कि–हम ससारियो के स्वभावत परिग्रही होने से हमारी दृष्टि भी मात्र परिग्रह (भूमि) पर ही केन्द्रित रह गई है और उसी के लिए हम प्रभूत धन–सग्रह मे लगे है। फलत –हम धर्म से मुखमोड़ मात्र क्षेत्र (भूमि–भवन) की रक्षा हेतु उद्यमशील है और येन–केन प्रकारेण उसे ही स्व–कब्जे मे रखना चाहते है और उस तीर्थ–धर्म को भूल रहे है जिसके कारण क्षेत्र, तीर्थ क्षेत्र कहलाए।

लिखने की आवश्यकता नही और इसे लोग जानते भी हो, शायद उनमे चिन्ता भी व्याप्त हो कि कैसे और किस प्रकार तीर्थक्षेत्र आज धर्म क्षेत्र के रूप मे सुरक्षित रह सकेगे? कुछ तीर्थो पर तो पिकनिक जैसे वे सब साधन तक मिलने लगे है जो धर्म से सर्वथा दूर और राग–रग की ओर आकर्षित करने वाले है। जैसे राग–रग के वीडियो कैसिट, फिल्म, टी०वी० आदि। जहॉ उस काल मे मुनियो ने तपस्या करके–परीषह सहकर और श्रावको ने घर से अल्पकाल की विरति लेकर व्रत उपवास, पूजा–पाठ, धर्म ध्यान कर तीर्थ और क्षेत्र की रक्षा की वहाँ आज लोग क्षेत्र पर जाकर कूलर, हीटर, फ्रिज, एयर कण्डीशन्ड कमरे और गृहस्थी के न जाने कौन–कौन से सासारिक सुख सजोने मे लगे है? ऐसे में कैसे होगी तीर्थ–रक्षा या कैसे होगी तीर्थ–क्षेत्र रक्षा? यह टेढ़ा प्रश्न है। हॉ, ऐसे मे यह तो हो सकता है कि हम परिग्रही लोग–परिग्रही नाम सार्थक करने के लिए येन–केन प्रकारेण क्षेत्र (भूमि) की स्व–स्वामित्व हेतु–रक्षा कर सके, पर धर्म रक्षा तो उक्त सभी परिग्रह मे ममत्व छोड़े बिना, परिग्रह परिमाण किए बिना

सर्वथा असभव ही है। जबकि लोग परिग्रह छोड़ना तो दूर–परिग्रह परिमाण (वह भी थोड़े दिन का भी) करने को भी तैयार नहीं। ऐसे में हमारी दृष्टि मे तो ममत्व छोड़े बिना धर्मरक्षित नही और धर्म की अरक्षा में धर्मक्षेत्र की सच्ची रक्षा नहीं–क्षेत्र रूपी (परिग्रह) की रक्षा भले ही हो जाय–अर्थ सचय भले ही हो जाए।

सभी जानते हैं कि क्षेत्रो को तीर्थरूप प्रदान करने का मूल श्रेय वीतरागता की मूर्ति पूज्य तीर्थंकरो व मुनियो को रहा है–उन्होने त्याग तप से भूमि को पवित्र किया, उसे तीर्थ क्षेत्र बनाया। आज जब वीतराग देव का अभाव है तब हमारी आँखें मुनिगण की ओर ही निहार रही है कि जिस कार्य को आज केवल लक्ष्मी के बल पर सम्पन्न कराने की चेष्टाएँ की जा रही है, उस कार्य की सम्पन्नता मुनिगण द्वारा सहज–साध्य है। इन क्षेत्रो पर मुनिगण को (जैसा कि उन्हे चाहना भी चाहिए) शहरी दूषित कोलाहल से दूर–आपाधापी से दूर–निर्जन एकान्त मे स्वय की आत्म–साधना मिलेगी और क्षेत्र भी तीर्थ बने रह सकेगे। यत– हमारी दृष्टि मे तीर्थ रक्षा मे प्रभूत द्रव्य की अपेक्षा वहाँ ऐसे नि स्पृही आत्म–साधको की सदाकाल उपस्थिति अपेक्षित है, जिनके परम–पूत चारित्र से चारो ओर धर्म तीर्थ सुरक्षित हो सके और यात्रीगण भी उनकी वैराग्यमयी मूर्ति व दिव्य वाणी से लाभान्वित हो सके। इस उपाय मे तीर्थ और क्षेत्र को चारित्ररूपी ठोस स्रोत होगे जबकि लक्ष्मी की प्रामणिकता की गारण्टी नही। कौन जाने, कब, कहाँ और किसके द्वारा, किस प्रकार से उपार्जित लक्ष्मी का उपयोग तीर्थ को उतना न उबार सके? हमारे सभी धार्मिक भावना वाले छोटे–बड़े सभी लक्ष्मी पति भी इस तथ्य को स्वीकार करते होगे और यदा–कदा शास्त्रो मे पढ़ते–सुनते भी होगे कि वीतराग मार्ग मे लक्ष्मी भली नही।

हमारी भावना है कि हमारे जीवित तीर्थ–मुनि त्यागीगण घने–जनसकुल नगरो, कोठियो के दिख–दिखावे से मुख मोड़, इन क्षेत्रो की ओर बढ़े। श्रावक उनकी तपस्या के साधन जुटाएँ और त्यागियो को अपनी ओर न

खींच, उन क्षेत्रों पर जाकर उनकी वन्दना–पूजा–अर्चा करें। इस प्रकार तीर्थ और क्षेत्र दोनो सहज सुरक्षित रह सकेगे और यह भी चरितार्थ होगा कि जैन धर्म में भगवान नही आते अपितु भक्त ही उनके चरणों मे नत होने–दूर–दूर तक जाते है।

अब जरा आइए, केवल क्षेत्र–रक्षा की बात पर। भला, जब क्षेत्र (स्थान) ही न रहेगा तो धर्म कहाँ रहेगा? आखिर, स्थान तो चाहिए ही। सो हमे क्षेत्र–रक्षा करने मे इन्कार नही–किसने कहा इसे न करे? हम तो क्षेत्र की रक्षा का लोप नही कर रहे है। लोग जो रक्षा कर रहे हैं सूझ–बूझ से कर रहे है, अच्छा कर रहे हैं, धर्म के लिए स्थान सुरक्षित कर रहे है।

पर, यह सुरक्षा तभी सफल है जब वे स्थान तीर्थ रह सके। उक्त विषय मे आपके क्या विचार है? जरा सोचिए।

आविष्कारों का उपयोग कहाँ?

हम साधु को साधु मानकर चल रहे है, कुछ लोगो की भाँति उन्हे प्रचारक या सासारिक प्रलोभनो मे अडिग रहने वाले तीर्थंकर मान कर नही चल रहे। हमारा लक्ष्य साधु मर्यादा की रक्षा है–अपनी स्वार्थ–साधना मे उन्हे आधुनिक आविष्कारो की ओर खीचना नही। यदि साधु मे साधुत्व सुरक्षित होगा तो उनसे 'अवाग्वपुषा' भी धर्म का पाठ मिल सकेगा। हमने देखा–लोगो मे आज आविष्कारो से लाभ लेने का मोह इतना बढ़ गया कि–वे स्व–लाभ के लिए साधु को भी आविष्कारो की ओर खीचने मे लगे है–कही माइक कही कैसिट और कही वीडियो, टेप आदि सोचे, इनसे साधु को स्व–लाभ है या परायो का चक्कर?

उस दिन की घटना है, जब स्थानीय मन्दिर मे एक दोपहर मे एक वृद्ध आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। एक सज्जन बोले–पडित जी, महाराज जैसे वृद्ध है वैसे ही ज्ञानप्रबुद्ध हैं–पूरा आध्यात्मिक बोले हैं, हृदय गद्‌गद् हो जाता है। पर, इनके दात न होने से वाणी स्पष्ट नहीं निकलती (जैसा

महाराज भी बार–बार कह रहे थे) जिससे लोगो के पल्ले अधिक कुछ नही पड़ता। यदि श्रोताओ के कल्याण के लिए इनके दात बनवा दिए जाऍ तो वाणी स्पष्ट निकलेगी और लोगो को दन्त–आविष्कार–उपयोग के फलस्वरूप अधिक लाभ भी हो सकेगा। उन्होने यह भी कहा–महाराज, प्रवचन के समय माइक की भॉति, दॉतो का उपयोग करे और बाद मे निकाल दे। इनमे ममत्व न करने से महाराज मे परिग्रह–दोष की तो बात ही नही उठती, ऐसा तो वे उपकार के लिए ही करेगे?

हमने सिर धुना कि लोगो को क्या हो रहा है? वे अपने स्वार्थ मे साधु से भी कैसी–कैसी अपेक्षाऍ रखने मे लगे है। कदाचित् आविष्कारो से अधिक और त्वरित लाभ लेने के लिए ऐसे साधु को टी०वी० और चित्रपटो के स्टेशनो तक भी खीच ले जाऍ तब भी आश्चर्य नही। क्योकि आज के आविष्कारो मे ये दोनो सर्वाधिक आकर्षक और त्वरित प्रचार के साधन है। हमने सोचा–स्वार्थ की पूर्ति मे स्वार्थी क्या कुछ नही कर सकता? जो न करे वही थोडा है। ठीक ही है कि–

'स्वार्थी दोष न पश्यति।'

हमारा अब तक का अनुभव तो यह है कि आविष्कारो के प्रयोगो के कारण से ही अधिकाश साधु अपरिग्रहरूप साधुत्व की लीक से कटकर प्रचारक मात्र बनकर रह गए है–कुछ जनता के लिए और कुछ ख्याति–लाभ और यश–प्रतिष्ठा के लिए। और यह सब दोष है उन श्रावको का, जो साधु–चर्या की उपेक्षा कर अपने लाभमात्र मे साधुओ को आधुनिक साधन जुटाते रहे है। अन्यथा साधु अपने कल्याण के लिए बना जाता है, या मात्र दूसरो के उद्धार मे अपना सर्वस्व खोने के लिए? जरा सोचिए।

चोर जगा रहे हैं?

चोरी क्यो होती है और किसकी होती है? ये सोचने की बात है। जिन–भगवान वीतराग है, मन्दिर और मन्दिर के उपकरण सभी उनके नही। ये तो शुभ–रागियो द्वारा शुभ–रागभाव मे निर्मित रागियो के भवन

है और उनके बहुमूल्य भौतिक उपकरण भी रागियो के ही है। जिन-शासन मे वीतराग-भाव की महिमा है और वीतरागभाव के साधन जुटाने के उपदेश।

अब परम्परा कुछ ऐसी बनती जा रही है कि लोग मन्दिरो और मूर्तियो मे भौतिक सम्पदा देखने-दिखाने के अभ्यासी बन रहे है- वे सासारिक विभूति का मोह छोड़ने के स्थान पर, वीतराग-भाव की प्राप्ति मे साधनभूत मन्दिरो, मूर्तियो मे सांसारिक विभूति देखने लगे है। कोई चादी, सोने और हीरे की मूर्तिया बनवाते है तो कोई बहुमूल्य छत्र-चमर सिहासन आदि। और यह सब होता है नाम, ख्याति, यश और प्रतिष्ठा के लिए-लोग चाहते है नाम लिखाना आदि। यह मार्ग सर्वथा त्याज्य है।

जब लोगो ने राग-त्याग के वीतरागी उपदेश की अवहेलना की तब चोरो ने थप्पड मारकर उन्हे सचेत किया और वे मार्ग पर आने को मजबूर होने लगे है। अब वे कह रहे है-

सादा मन्दिर मे सादा मूर्ति, वह भी विशाल पाषाण निर्मित होनी चाहिए- जिससे वीतरागता झलके।

लोगो की इस प्रक्रिया से क्या हम ऐसा मान ले कि जिन्होने वीतरागता की अवहेलना की उन्हे चोरो ने थप्पड़ मारकर सीधे मार्ग पर लाने का उपाय ढूढ़ा है। असली बात क्या है? जरा सोचिए? और यह भी सोचिए कि लोगो को सादगी और वीतरागता की ओर ढालने के अन्य उपाय क्या है?

प्रचार बातों से या आचरण से?

दिगम्बरत्व वस्तु का स्वरूप-धर्म है और इसका भाव नग्नत्व से है। जब कोई वस्तु आवरण अर्थात् विकार रहित निर्मल स्वरूप मे प्रकट होती है तब उसका वह रूप दिगम्बरी होता है और दिगम्बरी रूप को प्रकट करने के मार्ग अथवा सिद्धान्तो का अवलम्बन लेने वाला दिगम्बर मार्गी कहलाता है। जैन तीर्थकरो ने इसी मार्ग का अवलम्बन ले स्वय दिगम्बरत्व

की प्राप्ति की और इसी मार्ग को दूसरों के लिए उजागर किया। जो लोग दिगम्बर–रूप अथवा दिगम्बर मार्ग को सम्प्रदाय की सज्ञा देते है, वे भ्रम मे है। यत –सम्प्रदाय पूर्वाग्रहो से–पर विकल्पो से प्रेरित मलिनमार्ग है और दिगम्बरत्व वस्तु के निर्मल स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग। फलत ऐसा समझना चाहिए कि जब कही सम्प्रदायातीत दृष्टि का नाम लिया जाय तब वहाँ वस्तु का स्वरूप अथवा दिगम्बरत्व ही लक्ष्य है और इसी लक्ष्य प्राप्ति का आदर्श मार्ग तीर्थंकरो का मार्ग है, इसे ही धारण करना चाहिए।

लोग वर्षों से शोध–खोज की बाते करते है, इतिहासो मे तत्कालीन वेष–भूषा रीति–रिवाज आदि का अध्ययन करते है, मिट्टी पाषाणो कलाकृतियो मे तीर्थंकरत्व धर्म और दिगम्बरत्व की प्राचीनता खोजते है। और तो और ऐसे लोग भी, जिन्हे पेय–अपेय, खाद्य–अखाद्य और सामिष निरामिष का तनिक विचार नही, जो स्वय जैनानुकूल देवदर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि से सर्वथा अछूते हैं, जिन्हे सासारिक विषय वासना, कीर्ति के साधन जुटाने से फुरसत नही, वे दिगम्बरत्व के अनुरूप जैन की शोध खोज और प्रचार–प्रसार की बाते करते है।

ध्यान रहना चाहिए कि किसी सभा सोसायटी की सदस्यता या अधिकारीपने से, ऊपरी ग्रन्थ–ज्ञान होने से अथवा मीटिगो मे खुले बाहरी मचो पर भाषण झाडने से कुछ भी हाथ आने का नहीं, उल्टा दुष्प्रचार ही होगा। यदि वास्तविक दर्द है तो दिगम्बरत्व के अनुरूप क्रिया के आचरण को अपने जीवन मे उतारना होगा। जब हम क्रियारूप मे स्वय परिणत होगे–तब बिना प्रयत्न के ही प्रचार होने लगेगा। पूज्यवर्णी गणेश प्रसाद जी के शब्दो मे–'यदि हम अपने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो जावे–उसी के अनुसार प्रवृत्ति करने लगे तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयगम कर लेगे। परन्तु हम लोग अपने सिद्धान्तो को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नही, केवल शब्दो द्वारा बतलाने का यत्न करते है–उसका प्रभाव लोगो पर नही पड़ता।–जरा सोचिए असलियत क्या है?

भूल जो आज भी दुहराई जा रही है!

समाचारो से स्पष्ट है कि १५० वर्ष पूर्व एक भूल किन्ही दिगम्बर जैन भट्टारक महाराज ने कुम्भोज पहाड़ी का एक मन्दिर, मन्दिरमार्गी श्वेताम्बरो को देकर की, बाद मे पहाड़ी पर उन्हे धर्मशाला बनाने दी। जिसका दुष्परिणाम आज उभर कर सामने आया और फलस्वरूप बाहुबली की मूर्ति पर पत्थर फेके गए और त्याग के मूर्तरूप, तपस्वी ज्ञान प्रसारक ९२ वर्षीय वृद्ध दिगम्बर मुनि समन्तभद्र महाराज का अपमान हुआ। जिसके निराकरणार्थ मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज को अनशन व अन्नत्याग करना पड़ा है और सारी दिगम्बर समाज सतप्त और चिन्तित है। अन्य तीर्थों पर तो वर्षों से विवाद चलते ही रहे है। आज भी दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी को उन्ही मे उलझे रहना पड़ रहा है। ऐसे मे सावधानी की आवश्यकता है।

हमारा मन्तव्य है कि हम देश और प्रान्त की अखण्डता, सामाजिक सद्व्यवहार और सदाचार के प्रचार प्रसार के मामले मे सभी पथ सम्प्रदायो से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चले–एक दूसरे का सहयोग करे। पर धर्म सबधी सैद्धान्तिक और आचार–विचार मूलक सद्–परम्पराओ को आँच न आने दे, एक मे दूसरे के समावेश को प्रश्रय न दे। यदि हम इसमे सावधानी न बरतेगे तो कालान्तर मे किसी की भूल का प्रायश्चित किसी दूसरे को इसी भाँति करते रहना पड़ेगा जिस प्रकार भट्टारक महाराज की भूल का परिमार्जन आज हम दिगम्बरो के गुरु कर्मठमुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज को करना पड़ रहा है और दिगम्बर समाज चिन्तित है। दिगम्बर मन्दिरो मे श्वेताम्बरी मूर्ति रखाना, दिगम्बर प्रकाशनो मे श्वेताम्बरीय बातो–कथानको का समावेश कराना, तीर्थक्षेत्रो मे साझेदारी बरतना आदि जैसी भूले भी इसी जाति की है, जिन्हे दुहराया जाना आज भी बन्द नही है और जो परम्परा को तो लोप करेगी ही कालान्तर मे वे किसी कोर्ट मे भी हमे दुखदाई हो सकेगी।

जरा सोचिए! इस आपदा को टालने के प्रयत्न कैसे किये जायँ?

कितनी दूर कितनी पास?

चौबीसो तीर्थंकरो के चरित्र पढ़ने वाले स्वाध्यायी इन प्रश्नो के सहज उत्तर खोजे कि कौन–कौन से तीर्थंकर ऐसे है जिन्होंने साधु–पद अगीकार कर केवलज्ञानी होने की अवस्था के पूर्वक्षणपर्यन्त साधु–पद मात्र का निर्वाह किया और आचार्य–उपाध्याय पद नही लिया? और कौन से ऐसे है जिन्होंने बीच के काल मे आचार्य और उपाध्याय पद स्वीकार किए? यह भी देखे कि किन तीर्थंकरो ने किन्हें–किन्हे स्वय दीक्षित कर उन्हे स्व–शिष्य घोषित किया? हमारी दृष्टि से तो सभी तीर्थंकर न तो आचार्य उपाध्याय जैसे पदो से जुड़े और न ही उन्होने स्वयं के लिए चेला–चेली बनाए। जिसने भी दीक्षा ली उनके चरणो की साक्षीपूर्वक स्वय ही ली। ऐसा क्यो?

हम समझते है–पच परमेष्ठियो मे सिद्ध परमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट, आत्मा के शुद्ध रूप है और अर्हन्त दूसरे नम्बर पर है। तथा आचार्य–उपाध्याय और साधु इन तीनो पदो मे–मोक्षमार्ग की दृष्टि से–साधु सर्वोच्च और उत्तम है। प्रश्न होता है यदि उपर्युक्त क्रम सही है तो णमोकार मत्र मे जो क्रम है वह क्यो? वहॉ अर्हन्तो को प्रथम और साधुओ को अन्त मे क्यो रखा गया?

तत्व–दृष्टि से देखा जाय तो हम व्यवहारी है और व्यवहार मे हमारा उपकार अर्हन्तो से होता है तथा आचार्य व उपाध्याय साधु–पद मे दृढ़ता के लिए मार्ग दर्शक होते है, इस दृष्टि से ऐसा क्रम रख दिया गया है। अन्यथा यदि आचार्य पद–मोक्षमार्ग मे श्रेष्ठ होता तो किसी आचार्य को सल्लेखना करने के लिए भी अपने आचार्य पद का त्याग न करना पड़ता। यह निश्चय है कि 'पर' के उत्तरदायित्व के निर्वाह का त्याग किए बिना स्व की साधना नही हो सकती। फलत स्व साधना मे आचार्य पद त्यागना अनिवार्य है–निश्चय ही आचार्य पद मुक्तिबाधक है। यही कारण है कि तीर्थंकरो ने मुक्ति से दूरस्थ ये पद ग्रहण नहीं किए। फिर ये पद स्व–हेतु मगलोत्तम शरणभूत भी नही है। कहा भी है–

"चत्तारि मगलं। अरहत मगल, सिद्ध मगल, साहु मगल, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं। चत्तारिलोगुत्तमा, अरहत लोगुत्तमा सिद्धलोगुत्तमा, साहू–लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमा। चत्तारि सरण पवज्जामि। अरहत सरणं पवज्जामि, सिद्ध सरणं पवज्जामि, साहुसरण पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्म सरण पवज्जामि।"–

उक्त प्रसग मे आचार्य और उपाध्याय पदो को छोड़ दिया गया है। क्योकि परमार्थ दृष्टि से आचार्य और उपाध्याय दोनो ही पद–स्व के लिए न तो मगलरूप है, न ही उत्तम है और न ही ये परमार्थ मे शरणभूत है। आचार्य पद तो मजबूरी मे गुरुआज्ञापालनार्थ और सघ सचालनार्थ लेना पड़ता है, कोई खुशी का त्यौहार नही है, जो लोग इसमे लाखो–लाखो का द्रव्य व्यय कर लोक दिखावा करे और जय–जयकार करे। ये पद तो साधु की स्वसाधना मे शिथिलता लाने और पर की देखभाल करने जैसी उलझनो मे फॅसाने वाला है। इस पद पर बैठने वाला काटो का ताज जैसा पहिनता है–उत्तरदायित्व निर्वाह के प्रति उसकी जिम्मेदारी बढ़ जाती है। वास्तव मे तो 'शेषा –वहिर्भवाभावा , सर्वे सयोगलक्षणा ' और 'अहमेव मयोपास्य ' ही तथ्य है। उक्त स्थिति मे कौन सा पद मोक्षमार्ग से दूर और कौन–सा पद मोक्षमार्ग के निकट है तथा कौन–सा पद छोड़ना और किसकी ओर दौड़ना इष्ट है और आज क्या हो रहा है? जरा सोचिए।

कौन–सी परम्परा सही?

आज परम्परा शब्द भी परम्परित (गलत या सही) रूप धारण करता जा रहा है और इस शब्द का सबध वास्तविकता से न रहकर कोरी परम्परा (Direct या Indirect) से रहने लगा है। जैसे तीर्थंकर महावीर की परम्परा का वास्तविक रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है और आज दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी व तेरापथी सभी अपने को भगवान महावीर की परम्परा का घोषित कर बैठे है। वैसे ही आचार्यों की परम्परा भी विविध रूपों को धारण किए जा रही है।

आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना आचार्यत्व अपने द्वारा, आर्षअनुरूप तपस्वी, निर्ग्रन्थ, निर्दोष आचारपालक मुनि श्री वीरसागर जी को सौपा और उनका समर्थन सघ के समस्त साधुगण ने किया। श्री वीरसागर के बाद उनके आचार्यपट्ट पर क्रमश श्री शिवसागर जी और श्री धर्मसागर जी विराजमान हुए—लोग कहते है कि श्री आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना पट्टाचार्यत्व श्री पायसागर जी को नही दिया अपितु उन्होने कुन्थलगिरि मे अपनी सल्लेखना के अवसर पर अपना आचार्य पद वहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय के बीच श्री वीरसागर महाराज को प्रदान करने की घोषणा की और आचार्य श्री द्वारा प्रदत्त पीछी कमण्डलु श्री वीरसागर को जयपुर मे एक विशाल आयोजन मे विशाल चातुर्विध सघ के समक्ष विधिपूर्वक अर्पित किए गए। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष है—आ० शान्तिसागर से मुनिरूप मे दीक्षित मुनि श्री पायसागर जी थे और उनके दीक्षित मुनि श्री जयकीर्ति थे और उनके शिष्य आचार्य श्री देशभूषण जी थे—जो श्री पायसागर जी की परम्परा के पट्टाचार्य थे।

उक्त दोनो परम्पराओ मे आचार्य शान्तिसागर जी की पट्टाचार्य परम्परा कौन—सी मानी जाय? आ० धर्मसागर जी वाली या आचार्य देशभूषण जी वाली? हालाकि श्रावको के लिए दोनो ही पूज्य है। पर पूज्य होते हुए भी भ्रम निवारणार्थ वस्तुस्थिति तो समझनी ही होगी और यह भी समझना—सोचना होगा कि क्या अन्य पूर्वाचार्यों की परम्पराएँ भी, कभी ऐसी विवादास्पद स्थितियो मे ही निश्चित हुई होगी। जरा सोचिए।

देखते—देखते धाँधली?

एक कथा है—एक दिन वज्रदन्तचक्रवर्ती अपनी सभा मे विराजमान थे। एक माली ने उन्हे एक सुन्दर मुकलित कमल लाकर भेट किया। उसमे एक मरे हुए भौरे को देखकर महाराज विचारने लगे—देखो, एक नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होने से इस भ्रमर की जान चली गई तो फिर मै तो रात्रि—दिवस पचेन्द्रिय के भोगोपभोग मे लीन हो रहा हूँ, कभी ही नही

होती। यदि मै इनको स्वय नही छोड़ दूगा, तो एक दिन मेरा भी यही हाल होगा। ऐसा विचार कर ससार से उदास हो वे अपने पुत्र अमिततेज को राज्य देने लगे, परन्तु उसने कहा–पिता जी, जिस कारण आप इस राज्य को छोड़ते हैं, मैं भी इसे छोड़कर आपके साथ क्यो न चलूँ? वज्रदन्त के बहुत समझाने पर भी राज्य को जूठन समान जानकर उसने स्वीकार नही किया। अन्य पुत्रो को कहा तब वे भी अमिततेज के ही अनुयायी निकले। जो उत्तर अमिततेज से मिला था वही सब पुत्रो से मिला। निदान अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर यशोधर तीर्थंकर के चरणो के निकट महाराज वज्रदन्त ने दीक्षा धारण की।

हमने पू० आचार्य देशभूषण जी के आचार्य पट्ट ग्राहकत्व के लिए प्रचारित (दो मुनियो के प्रति) विभिन्न दो प्रकार की सूचनाएँ प्रकाशित देखी और दोनो सकल (समस्त) दि० जैन समाज के नाम से प्रसारित देखी। समझ मे नही आया कि सकल (एक) ने दो–रूप कैसे धारण कर लिए? सकल शब्द एकत्व का सूचक है– द्वित्व का नहीं। ऐसे सकल के नेतापन का दावेदार कौन? जो भेदवाद पर अकुश न लगा सका हो? स्पष्ट तो यही होता है कि समाज पर किसी का अकुश नही–सकल के भी कई भेद और कई नायक जैसे मालूम देते है–'नश्यन्ति बहुनायका।'

हमारी दृष्टि से तो सच्चे दिगम्बर मुनि ऐसे विवादो मे सदा तटस्थ और उदासीन ही रहते है–वे अमिततेज आदि भ्राताओ की भाति–और उससे भी कही अधिक विरक्ति का भाव दर्शाते है। यदि कही कोई विसगति होती है तो भ्रमोत्पादक नेताओ की प्रेरणा से ही होती है–सच्चे साधु की ओर से नही। स्मरण रहे–साधुपद, ज्ञाता–साधु की मर्यादाएँ, साधु की क्रियाएँ बहुत उच्च है–वे साधु के अध्यक्षत्व की ही अपेक्षा रखती है। फलत उनके वैराग्यमयी मुद्रा सबधी विधान, अधिकारो और पद–आदि सबधी क्रियाओ मे अगुआ–मुखिया बनने या पर–प्रेरणावश उनमे विघ्न या भेद–परक सूचनाएँ प्रसारित करने का अधिकार श्रावको को नही–जैसा कि किया गया है। हॉ, श्रावको का कर्तव्य है कि वे ऐसे अवसरो पर साधु

को दिख-दिखावे, जयकारों या विरुदावली-गानो आदि मे न भरमाए बल्कि उन्हे उनके कर्तव्य-निर्वाह हेतु-आत्मबलवर्धक दशभक्त्यादि जेसे धर्मानुष्ठानो के विशदरीति से करने का अवसर ही प्रदान करे-उन्हें जय-जयकार मे घेरे नही-जैसा कि वर्तमान मे चल पड़ा है। जरा निम्न पक्तिया भी देखिए, कि इनमे कैसे सामजस्य बैठेगा?

१ 'आचार्य श्री शान्तिसागर ने सन् १९५२ मे २६ अगस्त शुक्रवार को वीरसागर महाराज को पट्टाचार्य पद प्रदान किया, उन्होने कहा-हम स्वय के सतोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्यपद देते है ।' -दि० 'जैन साधु परिचय' पृ० ५८

२ 'चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी, तच्छिष्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी उनके पट्टशिष्य आचार्य देशभूषण जी महाराज ।'-एक पोस्टर

३ 'जैन परम्परा मे आचार्य शान्तिसागर से आरम्भ हुई आचार्य श्रृखला मे मुनि श्री विद्यानद पाचवे आचार्य है ।'-नवभारत २६ जून ८७

४ दिगम्बर आ० १०८ अजितसागर जी महाराज को श्री शान्तिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्टाधीश के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया।' -जैन गजट ३० जून ८७

५ 'आ० रत्नदेशभूषण मुनिमहाराज के करकमलो द्वारा ही अपने पदस्थान पर आचार्यरत्न पद नियोजित किये है। परमपूज्य १०८ बाहुबली जी बालाचार्य ही आचार्यरत्न।' -एक पोस्टर

भविष्य मे दिगम्बर गुरुओ को लेकर पुन कभी कोई दूषित व भ्रामक वातावरण न बने, इसके लिए आप कैसा, क्या उपाय सोचते है? जरा सोचिए।

औपशमिकादिभव्यत्वानां च

मोक्ष मे जिन भावो का अभाव होता है, तत्सबधी यह सूत्र है। इसका अर्थ ऐसा किया जा रहा है कि वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक

भावो का और पारिणामिक भावो मे से भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है। हम यहाँ क्षायिक भावो को इसलिए छोड़ रहे है कि–लोग वहाँ क्षायिक भावो का रहना कहते है और पारिणामिक मे से जीवत्व को भी स्वीकार करते है भव्यत्व तो वहाँ है ही नहीं।

विचारणीय यह है कि उक्त सूत्र मे 'आदि' शब्द का भाव किस मर्यादा मे है? न्यायसगत तो यही है कि 'आदि' शब्द सदा ही प्रसंगगत शेष सभी के लक्ष्य मे होता है–वह किसी को छोड़ता नहीं। यहाँ भावो का प्रसग है। और सूत्र मे प्रथमभाव के बाद आदि शब्द होने से पाँचो ही भावो का ग्रहण होना चाहिए और तदनुसार मोक्ष मे पाँचो ही भावो का अभाव स्वीकार करना चाहिए। पाठक सोचे कि–क्षायिकभाव और पारिणामिक भावो मे जीवत्व के रह जाने जैसा अर्थ सूत्र के किस भाग से फलित किया गया है?

हमारी दृष्टि मे उक्त सूत्र से ऐसा फलित करना सभी भाँति न्याय–सगत होना चाहिए कि–मोक्ष मे सभी भाँति, सभी प्रकार के सभी भाव–जो जीव–(ससारी) अवस्था के है–नही रहते। मोक्ष होने पर शुद्धचेतना मात्र ही शेष रहता है जिसका उक्त भावो से स्वाभाविक कोई सबध नही। विकारी (कर्म–सापेक्ष) अवस्था का नाम जीव है, जो कर्माधार पर जीता मरता है।–कर्म–सापेक्षता के कारण उसी के पाँच भाव है और शुद्ध–चेतना इन सभी भावो से अछूता–'चिदेकरस–निर्भर' है। इसी भाव मे श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है 'सिद्धा ण जीवा' और तथ्य भी यही है। जरा सोचिए! सूत्र मे 'भव्यत्वाना च' क्यो कहा? इसे हम फिर लिखेगे।

निर्दोष मुनित्व का उपक्रम

परमपूज्य चारित्र–चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज सच्चे मुनि थे और उनकी साधना खरी थी, वे परीषहो के सहन मे सक्षम थे। उन्हे यह भी लगन थी कि मुनि मार्ग की धारा अविच्छिन्न बनी रहे और निर्मल रहे। वे मुनियो की बढ़वारी और स्वच्छशासन के पक्षपाती थे। फलत:–वे साधुचर्या मे क्षुल्लक तक को भी सवारी डोली आदि का निषेध करते

थे और सस्थाओ के रख–रखाव, चन्दा, चिट्ठा आदि आडम्बर जुटाने के भी सख्त खिलाफ थे। पर, आज वे बातें नही रही। आज कई दिगम्बर साधुओ मे आचार के प्रति व्याप्त शिथिलता को लक्ष्य कर चिन्ता व्याप्त थी कि–किस प्रकार मुनिमार्ग निर्दोष रह सकेगा? क्योकि साधुपद सर्वथा 'यम' रूप होता है, जो एक बार ग्रहण कर छोड़ा नही जा सकता– जीवन भर उसका निर्वाह होना चाहिए। ऐसे मे हमारी दृष्टि भी उधर न जा सकी कि किस प्रकार मुनि अपने पद का त्याग कर सकता है? अब 'तीर्थंकर' पत्रिका के माध्यम से दीक्षा–त्याग के नीचे लिखे तथ्य समक्ष आए है–

"साधु पद छोड़ने की व्यवस्था भी हमारे यहाँ है। तीन अवस्थाएँ हैं– किसी ने दीक्षा ली और वह कुमार है, बाल ब्रह्मचारी है तो तीन प्रावधान हमारे सविधान मे है–पहला यह कि यदि उसे परीषह सहन नही होते हैं तो वह गुरु आज्ञा लेकर घर जा सकता है यानी पद छोड़ कर परिवार मे लौट सकता है, दूसरे, माता–पिता के इस आग्रह पर कि उसकी परिवार के लिए जरूरत है, आचार्य उसे पद त्याग की अनुमति दे सकता है, और तीसरे यह कि यदि देश के लिए उसकी आवश्यकता है तो राजाज्ञा से राजा भी उसे पद छुड़वा कर ले जा सकता है, परन्तु ध्यान रहे ये तीनो स्थितियाँ कुमारावस्था मे दीक्षितो के लिए ही बनती है।"

–'तीर्थंकर' वर्ष १७, अक ३–४, पृ० २१–२२

यदि यह सच है और उक्त प्रावधान दीक्षा–त्याग मे आगम सम्मत है तो इनमे दूसरे तीसरे प्रकार के अवसर बिरले ही मिले–हॉ, परीषह न सह सकने के अवसर अधिक दृष्टिगोचर होते है। प्राय अधिकाश मुनि परीषह सहने से जी चुराते है और बचने के लिए भॉति–भॉति के बहानो से आडम्बर जुटाते देखे जाते है। ऐसे कुमार (अविवाहित) मुनियो को सोचना चाहिए कि वे जिन–मार्ग को दूषित करे या आचार्य के आदेश से दीक्षा छोड़ दे? हमारी दृष्टि से तो उनको पद छोड़ देना ही अच्छा होगा। ऐसे मुनियो को यह प्रावधान भी देख लेना चाहिए कि जिनको गुरु उपलब्ध न हो वे किसकी आज्ञा लेकर पद छोडेगे? इसके सिवाय कोई

प्रावधान उनके विषय मे भी देखना चाहिए जो कुमार नही है। क्योंकि परीषह न सह सकने की कायरता बहुत से अकुमार साधुओ मे भी देखी जाती है।

यदि उक्त विधि कारगर हुई तो हम अवश्य समझेंगे कि पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी ने मुनि मार्ग की जिस परम्परा का पुन सूत्रपात किया, उस परम्परा के संरक्षण मे यह बड़ा ठोस कार्य होगा और शिथिलाचारियो की छँटनी हो जायगी और इसकी बधाई 'तीर्थंकर' को जायगी। हाँ, उक्त प्रावधान के आगम प्रमाण अवश्य प्राप्त कर लिए जायें और उन्हे उजागर किया जाय। हमने आगम मे ऐसा नही देखा।

हमारी दृष्टि से जैनियो मे दो प्रकार के व्रतो का विधान है—एक 'नियम' रूप और दूसरे 'यम' रूप। जो व्रत 'नियम' रूप होते हैं, वे काल मर्यादा मे बँधे होते हैं और समय पूरा होने पर स्वय छूट जाते है। यदि व्रती चाहे तो उनहे कुछ काल के बन्धन मे पुन धारण कर सकता है। पर, मुनि का पद 'यम' रूप होता है जो एक बार धारण कर छोड़ा नही जा सकता—जीवन भर उसका निर्वाह करना पड़ता है। जैसे—'ब्रह्मगुलाल' ने राजा के आदेश से स्वाग दिखाने हेतु मुनि का वेष धारण कर लिया। स्वाग के बाद जब उन्हे राजा ने कपड़े धारण करने को कहा तो 'ब्रह्मगुलाल ने स्पष्ट जवाब दिया कि—"यह वह वेष है जो एक बार धारण कर छोड़ा नही जा सकता" और वे वन को चल दिए।

ऐसी स्थिति मे यदि कोई 'यम' रूप मुनि के व्रत को छोड़ने का उत्सर्ग मार्ग और वह भी गुरु आज्ञा लेकर छोड़ने का विधान बतलाता हो तो उसे आगम—सम्मत नही माना जा सकता, अपितु उसे पद—भ्रष्टता का द्योतक ही माना जायगा और पद—भ्रष्टता मे आचार्य के आदेश लेने जैसी बात करना केवल मनस्तोष और बहाना ही होगा कि—अमुक मुनि, अमुक आचार्य की आज्ञा से पदभ्रष्ट हुआ आदि। हम तो समझे हैं कि कोई आचार्य किसी की गिरावट के लिए अनुमोदना नहीं कर सकता अपितु वह सभी का स्थितिकरण करने का अधिकार रखता है—ऐसे मे यह स्पष्ट है कि

वर्तमान मे जो पद मे स्थितमुनि परीषह सहन न कर सकने के कारण बाह्याडम्बरो मे लिप्त हो वे आचारहीन कहलाएँगे और जो दीक्षा छोड़ देगे वे पदभ्रष्ट अर्थात् पलायनवादी कहलाएँगे–जबकि आचार्य कभी भी पदभ्रष्ट होने का समर्थन नही कर सकते। हाँ, परिस्थिति वश वे ऐसे मुनि को सघ से निष्कासित कर सकते है, उसके उपकरण छीन सकते है। भ्रष्टता मे आज्ञा अपेक्षित नही होती। जो भ्रष्ट होना चाहे वे स्वय पद छोड़ सकते है।

मुनिगण मे व्याप्त शिथिलाचार को पोषण देने वाले कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते है कि क्षेत्र और काल के अनुसार बदलाव स्वाभाविक है। ऐसे लोगो को सोचना चाहिए कि वे अपनी इस बात को नग्नता के परिवेश मे भी क्यो नही देखते? यदि क्षेत्र और काल शिथिलता मे आड़े आते है तो वर्तमान सन्दर्भ मे नग्न–वेश आड़े क्यो नही आता? यत –आज तो अधिकाश जनता नग्नता को हेय की दृष्टि से ही देखती है। पर ध्यान रहे कि धर्म अपरिवर्तनीय होता है–उसमे क्षेत्र और काल आडे नही आ सकते। यही कारण है कि अद्यावधि दि० मुनिरूप क्वचित्–क्वचित् हमारी दृष्टि मे आता रहा है। यदि शिथिलता के निवारण के प्रति हमारी जागरूकता हो तो मुनिधर्म व वेष आज भी निर्मल बना रह सकता है। आचार्य का अधिकार दीक्षा छोड़ने की अनुमति देने–भ्रष्ट करने मे नही, अपितु स्थितिकरण मात्र तक सीमित है। जैसे कि वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल का स्थितिकरण किया। यदि कोई मुनि अपना पद छोड़ना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है, स्वय छोड़ दे ताकि मुनिमार्ग शुद्ध बना रहे।

साधुओ मे शिथिलता का कारण बताते हुए एक सज्जन ने कहा–"श्रावक तो साधुओ को दोष देते है पर, सब दोष श्रावको का है–'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन।' प्राय कई श्रावक काले धन की कमाई करते है, मुनि भी आहार उसी धन से करते है और मुनियो मे अन्न के प्रभाव से आचार–शिथिलता आती है। श्रावक सफेद धन से आहार बनाएँ तो मुनि भी सच्चे साधक हो।'

हम इसके विपरीत सोचकर चलते है—जब साधु जानता हो कि इस प्रकार का अनीति से अर्जित दान शिथिलता उत्पन्न करता है तो वह ऐसी घोषणा क्यों नहीं करता कि यदि मुझे न्याय—नीति की सच्ची कमाई से कोई दान देगा तो लूगा अन्यथा मेरा लम्बा अनशन चलेगा। इससे साधु को परीषह सहना तो होगा, पर कुछ समय मे गिने—चुने मेहनती श्रावक—चाहे वे गरीब मजदूर भी क्यो न हो? अवश्य मिल जाएँगे—जैनियों मे अभी भी प्रामाणिक लोग हैं और धर्मश्रद्धालु भी। मुनि के उक्त मार्ग अपनाने से काले धन्धे वाले स्वय छॅट जाएँगे। स्मरण रहे कि मार्ग साधु की कमजोरी से ही बिगड़ा है? पर, कहे कौन? आज तो द्रव्य की ओर दौड़ है, उत्तम व्यजनो के आहार का जोर है और कई साधुओ ने सस्थाओ के भवन—निर्माण, रख—रखाव और धुआँधार प्रतिष्ठा प्राप्ति के साधन जुटाने जैसे कार्य भी पकड़ रखे है—जिनमे प्रभूत धन, काले धन से ही आ सकता है, एक नम्बरी कमाई करने वाला तो इस युग मे पेट—भर रोटी कपड़ा कमा ले यही काफी है।

"साई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मै भी भूखा न रहू, साधु न भूखा जाय।।"

इस रूप की भावना भी गरीब ही रख सकता है, सोचिए, असलियत क्या है? कही दो नम्बरी द्रव्य से सपादित सभी गतिविधियॉ खोखली तो न होगी, प्रभूत काले धन से निर्मित भवन मठाधीशो के मठ तो न बन जायेगे? जरा सोचिए! हम तो मुनियो की बात के श्रद्धालु है एतावता हमे ऐसी सम्भावना बने तो आश्चर्य नही।

जिनवाणी का संभावित भावी रूप

वर्तमान मे जैसा वातावरण बन रहा है, उससे सभावना बढ़ी है कि वह दिन दूर नही, जब जिनवाणी का स्थान पडित वाणी को मिल जायगा और पण्डित वाणी ही जिनवाणी कहलाएगी। आज स्थिति ऐसी है कि लोग आचार्यों की मूलभाषा—प्राकृत, सस्कृत से दूर—पडितो के भावानुकूल—

भाषावद्ध अनुवादों को पढ़ने के अभ्यासी बन रहे है और ऐसे कई अनुवादो के कारण विवाद भी पनप रहे है। एक दिन ऐसा आयेगा कि हमारे हाथ मे विवाद की जड़ अनुवाद मात्र रह जाएँगे और मूल जिनवाणी की सभाल कोई भी न करेगा।

ऐसे मे आवश्यक है कि पडित गण जनता के समक्ष मूल के साथ मूल का शब्दार्थ मात्र लिखित रूप मे प्रस्तुत करें। यदि किन्हीं को व्याख्या करनी इष्ट हो तो मौखिक ही करे—ताकि गलत रिकार्ड की सभावना से बचा जा सके। यत व्याख्या में विपरीतता के सभावित होने से उसका होना भविष्य मे जिनवाणी को ही दूषित करेगा।

आज स्थिति ऐसी है कि पडित–निर्माण की परम्परा खण्डित हो रही है और इसी कारण शुद्धात्मा की चर्चा तक मे लीन अनेक अपण्डित भी अपने को पण्डित मान, अपनी कषायो के पोषण मे लगे है। कई भले ही बाह्य चारित्र को पाल रहे हो तो भी क्या? कइयो का अन्तरग तो मैला ही देखा गया है—कषायो का पुज।

आज की आवश्यकता है पल्लवग्राहिपाण्डित्य के स्थान पर मूलभाषाविज्ञ, सैद्धान्तिक ठोस पण्डितो की—जिनकी ओर से समाज ने ऑखे मूँद रखी है। आज परिपक्व पडितो तक की बीमारी और बुढ़ापे मे भी दुर्दशा है—भले ही उन्हे अतीत मे अभिनन्दन, सम्मान भेटे और जयकारे मिले हो? समाज मे छात्रवृत्ति फड है, विधवा सहायताकोष है, अस्पताल अनाथालय और उदासीन जैसे उदासीनाश्रम भी है, पर किसी ने पडितो की वृद्ध और असहायावस्था मे उन्हे सम्मानपूर्वक जीवन बिताने के लिए कोई सहायता फण्ड खोल रखा हो तो देखे। हाँ ऐसा तो है कि जब तक पण्डित काम करता रहता है तब तक समाज उसे वेतन देता है—नौकरी–ड्यूटी–चाकरी के रूप मे। इसमे इतनी तक समझ नही कि पडित के प्रति उक्त शब्दो के प्रयोग से घृणा करे और मासिक को पुरस्कार, दक्षिणा, या आनरेरियम के नाम से पुकारे। ऐसे मे कैसे होगे पडित तैयार और क्यों करेंगे वे अपनी पीढी को अपने जैसा बनने के लिए प्रोत्साहित? क्या, गुलामी करके भी भूखो मरने के लिए? जरा सोचिए!

क्या त्रिगुटा तथ्य नहीं?

"धर्म भी एक धन्धे के रूप मे विकसित हो रहा है। तीर्थंकरो या उनके सेवको को सुख दुःख का कर्ता धर्ता बना देने से धर्म अनेक लोगो के लिए आजीविका का अच्छा साधन बन गया है। कोई गृहस्थाचार्य के रूप मे तो कोई मन्त्र–तन्त्र वेत्ता बनकर धन बटोर रहे है। मत्रित अँगूठियो, ताबीजो एवं यत्रों की बिक्री एक अच्छा धन्धा बन गया है। धर्म की ओट मे पल रहे और तेजी से बढ़ रहे इस गोरखधन्धे का सूत्रधार एक त्रिगुटा है। ज्ञान चारित्र से रहित वे नव धनाढ्य जो पैसे के बल पर समाज के नेता बनना चाहते है इसके सचालक है। धर्म से आजीविका चलाने वाले गृहस्थाचार्य और शिथिलाचारी त्यागी–व्रती इनके सहयोगी है। तीन वर्ग एक दूसरे के हितो को पुष्ट करते हुए समाज को अधेरे मे धकेल रहे है।

जब कोई कार्य आजीविका या प्रतिष्ठा का साधन बन जाता है तो व्यक्ति उसे हर कीमत पर बचाने का प्रयास करता है। यह त्रिगुटा वर्तमान मे ऐसा ही कुछ कर रहा है। धार्मिक पत्र–पत्रिकाएँ जिन्हे अहिसा, प्रेम, सदाचार का सदेशवाहक होना चाहिए। समाज मे घृणा द्वेष फैलाने का माध्यम बन रही है।

अब तो चातुर्मास के साथ समाज का धन गाजे–बाजे, पैम्पलेटबाजी व प्रदर्शन मे बर्बाद होता है। जैनियो का आचार व्यवहार इतना गिर गया है कि जैन पकौड़ी भण्डार, गोभी और प्याज से दुकान सजाते है। जैन नाम के साथ अन्तर्गर्भित वीतरागता, अहिसा, सदाचार अपरिग्रह, नीतिगत व्यवहार, धारणाएँ जीवन से तिरोहित हो रही है। समाज का नेतृत्व विद्वानो व त्यागियो के हाथो से निकल कर सेठो के हाथो मे जा रहा है। सब सस्थाओ के सचालक एक तरफ से धन बटोरने मे लगे हैं।' यह स्थिति बदलनी चाहिए।

संस्कृति क्या है?

सस्कृति शब्द बड़े गहरे मे है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व–आत्मा से है। जिसे हम 'सस्कृत' कहते है वह सस्कार किया हुआ होता है और

सस्कार किए हुए से सस्कृति पनपती है और वह स्थायी होती है। क्योकि वह स्व–गुणो के विकास का रूप होती है, निखरे गुणो का पुज होती है। इससे उल्टी असस्कृति–पर से प्रभावित, बहुरूपियापन से लदी होती है और बहुरूपियापन–उधार लिया रूप–नाश होने वाला रूप होता है। उदाहरणार्थ, स्वर्ण का रूप निखरना उसका सस्कृत होना है और निखरे सस्कृत रूप से प्रभावित होने वाली परम्परा स्वर्ण–सस्कृति है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए।

आज जो विभिन्न मत–मतान्तरो, भाषाओ, जातिपथो और प्रान्तवादों आदि से सस्कृति का नाता जोड़ा जा रहा है वह अटपटा–सा लगता है। जैसे–हिन्दू सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति इत्यादि। क्योंकि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि किसी मूल के उभरे सस्कार नही–ऊपर के वेष हैं, बाने है, जो समय–समय पर मतभेदो के प्रादुर्भाव मे लादे जाते रहे हैं और बदलते रहे है, बदलते रहेंगे और कभी नष्ट भी हो जायेगे। न जाने कब से अब तक कितने मत–मतान्तर, प्रान्त, राष्ट्र आदि पैदा हुए और न जाने कितने अतीत मे समा गए। पर, संस्कृति न कभी निर्मित हुई और न कभी नाश होगी। अत यदि हम ऐसा कहे कि मानव–सस्कृति, आत्मा–संस्कृति अहिसा–सस्कृति आदि तो ठीक बैठ जाता है क्योकि ये सदा से है और सदा रहेगे। इनके अपने रूप मे कभी अपनो से भेदभाव न होगा। जबकि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेदभाव हो जायेगा–एक पथ–सम्प्रदाय के होने पर भी उसके आधार से पनपने वाली सस्कृति, उसके अनुयाइयो से दो भेदो मे बँट जायेंगी–एक हिन्दू की सस्कृति कुछ होगी तो दूसरे की कुछ। मानव या आत्मा मे ऐसा नहीं होता–मानवता एक रूप अखण्ड है और आत्मा भी एक रूप अखण्ड है। इनके लक्षणो–गुणो मे फर्क नही होगा। जो फर्क दिखेगा भी वह फर्क मानवता या आत्मत्व के लिहाज से न होकर, पर–प्रभावित आधारो से स्व की असस्कृत अवस्था मे ही होगा अत वह उसके लिए असस्कृति ही होगी।

मानव और अमानव मे स्वभाव, विभाव—स्व परिणतिशीलता और पर परिणतिशीलता का भेद है। जब कोई मानव स्व—परिणति—स्वभाव मे प्रकट होगा तब उसकी सस्कृति मानव—सस्कृति होगी। और जब वह हिन्दू—मुसलमान आदि पर प्रभावित रूपों मे प्रकट होगा तब वह अमानव—सस्कृति से ग्रस्त होगा। क्योंकि वह उसका 'स्व' का असस्कृत—बिना संस्कार किया हुआ और पर—प्रेरित रूप होगा। इसी प्रकार जब आत्मा स्वभाव की ओर जाता है तब उसका सस्कृत रूप होता है और जब स्वभाव मे न जाकर पर—प्रेरित रूप मे होता है तब उसका रूप असस्कृत होता है। फलत मानव के असली रूप से पनपने वाली सस्कृति मानव सस्कृति होती है और आत्मा के असली रूप से पनपने वाली सस्कृति आत्म—सस्कृति होती है, आदि।

उक्त तथ्य के प्रकाश मे आज हमे अपनी श्रेणी निश्चित करनी होगी कि हम किस पक्ति मे बैठ रहे हैं? पहले बताई गई सस्कृति की पक्ति मे या दूसरी असस्कृत पंक्ति मे? हममे रत्नत्रय है या मिथ्यात्वादि विकृत भाव? हम परमेष्ठियो वत् अपने गुणो मे विकास की ओर चल रहे हैं या अविरति प्रमाद कषायादि की ओर? गुणस्थानो की अपेक्षा हम कहाँ है और हमारी गति अनेकान्त अथवा एकान्त किस विचारधारा के आश्रय मे वर्तमान है? आदि।

पुरुष के विषय मे जब आचार्य कहते है—

'पुरुगुणभोगेसेदे, करेदि लोयम्मि पुरु गुण कम्म।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।।'

—जो उत्तम गुण और भोगो का सेवन और लोक मे उत्तम गुण—कर्मो को करता है वह पुरुष और पुरुषार्थी है। तब हम लोक मे उत्तम गुणो मे न रह, हिंसा करते हुए झूठ और चोरी प्रेरित जैसी आजीविका के सहारे जीते हुए बाह्याडम्बरो—जाति, सम्प्रदाय, वेश—भूषा, भाषा, प्रान्त आदि के पक्षपात जैसे यत्रो से पुरुषत्व और पुरुषार्थ का माप कर रहे है यानी असली पुरुषत्व और पुरुषार्थ के रूप को विकृत—असस्कृत बनाने मे लगे है।

आत्मा के विषय मे जब आचार्य कहते है–'भेद विज्ञानतो सिद्धा सिद्धा ये खलु केचन'–सिद्ध होने के लिए जीव और पुद्गल के भेद का ज्ञान होना जरूरी है। तब लोग उस भेद–विज्ञान की दिशा, जाति–सम्प्रदाय, भेष–भूषा भाषा और प्रान्तवाद आदि की ओर मोड़ रहे है, आत्मा को पर–के रग मे रग रहे है, परिग्रह की पकड़ को दृढ़ करने मे लगे है और इस तरह वे सस्कृति और आचार्यों की अवहेलना ही कर रहे है।

यदि हम सस्कृति को भिन्न रूपों मे देखना चाहे तो हम कहेंगे–मन वचन काय द्वारा किसी को न सताना, यथातथ्य व्यवहार करना, पराई वस्तु का हरण न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और इच्छा व सग्रहो के त्याग की ओर लगना इन पॉच नियमो पर सभी ने जोर दिया है–किसी ने कम और किसी ने ज्यादा। ये सभी दर्जे मानवता के निखार के है। ससारी आत्मा को परमात्मा बनने मे सहायक है, तद्रूप है। अत ये मानव सस्कृति या आत्म सस्कृति कहलाऍगे और इन्हे हिन्दू मुस्लिम जैसे फिरको के पोषक न होने से, हिन्दू या मुस्लिम सस्कृति नही कहा जाएगा। यत –इन पॉचो के होने न होने से इन फिरको के रूपो पर कोई प्रभाव नही पड़ता–पॉचो हो तब भी हिन्दू या मुसलमान हुआ जा सकता है और न हो तब भी हुआ जा सकता है। ऐसे ही–

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, यम्यक्चारित्र सस्कृति है। सिद्ध दशा साक्षात् सस्कृति है और अरहत, आचार्य, उपाध्याय, साधु के रूप सस्कृति के सूचक है। पहिला गुण स्थान असस्कृति सूचक है, दूसरा सस्कृति से गिरने की सूचना देता है, तीसरा ढुलमुल और आगे के गुणस्थान सस्कृति के उजागर तर–तम रूप है जो उत्तरोत्तर निर्मलता लिए हुए है। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद सस्कृति का दर्शन कराने वाले है–आदि।

इसके विपरीत आधुनिक युग का मानव जिन्हे सस्कृति पोषण के लिए प्रयुक्त कर रहा है और सस्कृति का नाम देने मे लगा है वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि विभाव मानव और आत्मा के लिए असस्कृतिया है।

उक्त सन्दर्भ मे सस्कृति क्या है? जरा सोचिए!

जिन, जैन और जैनी

वस्तु की स्वभाव मर्यादा के अनुसार वस्तु के गुणधर्मों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन, जैन और जैनी ये तीनो शब्द तीन होते हुए भी एक ही व्यक्ति को इगित करने वाले हैं। अत. धर्म–धर्मी मे अभेद है और इनमे परस्पर गुण–गुणीपना है। कर्मों पर विजय पाने वाले जिन, 'जिन का धर्म जैन और जैन का अनुगमनकर्ता जैनी है। इसके विपरीत जो 'जिन' नही, वह 'जैन' नही, और जो 'जैन' नही, वह 'जैनी' भी नही। फलत –उक्त परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान मे जैनी का सर्वथा अभाव है। यदि जैनी बनना हो तो जिन बनना चाहिए।

जिन या जैन बनने के लिए तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त और मुक्ति पाने से पूर्व सभी अरहन्तो ने जो किया, वही हमे करना पड़ेगा। हमे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र के मार्ग से जाना पड़ेगा। अणुव्रतो और महाव्रतो की सीढ़ियो पर चढ़ना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करना पड़ेगा–इनकी पूर्णता मे ही हम जिन, जैन और जैनी बन सकेगे। जबकि आज हम इन सभी से दूर है और लगातार दूर जाने के प्रयत्नो मे लगे हुए है।

दूर होने का उक्त सन्दर्भ, किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध मे हो ऐसा नहीं है, यह तो आज सभी पर लागू होता है–चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यो न हो? आज श्रावक श्रावक मे, श्रावक साधु मे, साधु साधु मे, धनिक धनिक, धनिक निर्धन और निर्धन निर्धन मे परस्पर विसगतियाँ चल रही है–एक दूसरे की आलोचना मे तत्पर है। एक दूसरे को हीन समझ रहा है, हर अन्य हर अन्य की कमजोरियाँ बताने मे लगा है, अपनी ओर नही देखता। यदि व्यक्ति इस प्रक्रिया मे मोड़ ले और दूसरो की अपेक्षा पहिले अपने को देखे तो हर व्यक्ति जिन, जैन और जैनी हो सकता है।

जैनी बनने के प्रयत्नों मे पहिले श्रावक बनना जरूरी है। जो श्रद्धा, विवेक और क्रियाशील होता है, वह श्रावक कहलाता है। हम देखे कि हम

तत्त्वो एव देव, शास्त्र, गुरुओ मे कितनी श्रद्धा रखते है? वर्तमान में देव तो है नही, शास्त्रो के रहस्य को हम जाने नही और गुरुओ की निन्दा करते हो तो हम कैसे श्रावक हो सकते है? श्रावक होने से पहले हमे अष्टमूल गुणो को समझना चाहिए और उन्हे धारण करना चाहिए। हम उन्हे धारण न करे और अपने को श्रावक घोषित करे यह सर्वथा विसगति ही है–जैसा कि आज चल रहा है। आज कुछ लोग तो कुदेवो मे देव, कुशास्त्रो में शास्त्रो की कल्पना किए बैठे है और कुछ को तो गुरु फूटी आँखों भी नहीं सुहाते। गोया, छिद्रान्वेषण एक व्यापार बन बैठा है। उपगूहन और स्थितिकरण की बात ही नही होती–सुधार के नाम पर निन्दा में इश्तिहार तक निकाले जाते है। यदि ऐसे लोग अपने को देखे कि वे कितने गहरे मे है और श्रावक के योग्य अपनी क्रियाओ के प्रति कितने सावधान है तो उन्हे सहज ही पता चल जाय कि वे स्वय भी भ्रष्ट हैं। भ्रष्ट लोग भ्रष्ट को भ्रष्टता से कैसे बचा सकेगे और कैसे जिन, जैन या जैनी बन सकेगे? यह विचारणीय है? जरा सोचिए।'

विद्वानों की महत्ता

'णमो उवज्झायाण' ये अश णमोकार मत्र के मूल पाठ का है, जिसे प्रत्येक उपासक हृदय मे सजोकर रखता और धर्म जानने के लिए उपाध्यायो की शरण जाता रहा है। तीर्थंकरो की दिव्य ध्वनि के पश्चात् उपाध्याय गणधर देव भव्य जीवो को धर्ममार्ग बतलाते रहे है। उपाध्याय पूर्ण श्रुत–अग पूर्वों के पाठी होते है और वे प्रमुख उपाध्याय है। उनसे कम अग–पूर्व भाग के ज्ञाता लघु–लघु श्रेणी मे आते है। जो वाणी तीर्थंकरदेवो से प्रवाहित होती रही है वह इन्ही उपाध्यायो के क्रम से भव्य जीवो तक पहुँचती रही है।

कालान्तर मे जब अग–पूर्वों के ज्ञाता उपाध्यायो का विच्छेद होता गया तब उनका काम आचार्यो और साधुगण ने सभाला और उनकी अनुपस्थिति मे इस कार्य की पूर्ति अल्प ज्ञान और अल्प चारित्रधारी त्यागी विद्वान

करते रहे। जो विद्वान व्रत और प्रतिमाधारी नही थे वे भी श्रावक के स्थूल आचार का पालन करते हुए इस क्षेत्र मे गतिशील रहे। फलत भव्य जीवो को जिनधर्म का ज्ञान व चारित्र सम्बन्धी मूर्त–रूप फलित होता रहा।

चूंकि जैन धर्म वीतराग–धर्म है और धार्मिक प्रसंग मे वीतराग–रूप को नमस्कार का विधान है। अत पूर्णचारित्र की मुख्यता के आधार पर मूल–मत्र णमोकार में सकल चारित्री उपाध्याय परमेष्ठी को नमन कर उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन है और अल्प–चारित्री या अव्रती विद्वानों को इसमे ग्रहण नहीं किया गया है। यद्यपि ऐसे स्थूल–चारित्रधारी विद्वान पहिले भी होते रहे है जो स्वतन्त्र आजीविका से निर्वाह कर परमार्थ रूप धर्मज्ञान देकर भव्य–जीवों का उपकार करते रहे है। उन विद्वानो की आजीविका पठन–पाठन पर आश्रित नही होती थी। फलत वे स्वतन्त्र और निर्भीक भी थे। वस्तुत धर्मज्ञान क्रय–विक्रय का धधा नही है। अभी तक यह प्रकट नही हो पाया कि विद्वानो मे पारिश्रमिक लेकर धर्म–ज्ञान दान की परम्परा कब से चालू हुई? हो सकता है ये ब्राह्मण सम्प्रदाय का प्रभाव हो। बाद के काल मे तो विद्वानो मे इस व्यवसाय–परम्परा का मूल कारण विद्वानो का अर्थाभाव ही परिलक्षित होता है।

जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि विद्वानो ने धर्म रक्षा और उसकी प्रभावना मे कोई कोर–कसर नही छोड़ी, उन्होने तन–मन का पूरा योग देकर मन्दिरो, सरस्वती भवनो, शिक्षा सस्थानो आदि की स्थापना का मार्ग सुझाया उनके निर्माण मे योग दिया, स्थान–२ पर भ्रमण करके उनके लिए चन्दा इकट्ठा किया। उनकी व्यवस्था और पठन–पाठन जैसी सभी जिम्मेदारियाँ उठाईं। विद्वानो ने पूजा–प्रतिष्ठा, विधान, सस्कार–विधियो को सुरक्षित रखा, यद्यपि कालान्तर मे ये कार्य व्यवसाय बनने से विकृत हो गए। विद्वानो ने लोगों मे श्रद्धा–ज्ञान और चारित्र जगाने के लिए जगह–जगह भ्रमण कर प्रवचन किए। शास्त्रो को सुरक्षित रखा। और भी जितने धार्मिक प्रसग उपस्थित होते रहे सभी में विद्वानो का पूर्ण योगदान रहा। विधर्मियों द्वारा आगम, मार्ग पर किए गए प्रहारो को भी विद्वानो ने निर्मूल किया। आदि।

यह कहना भी अत्युक्ति होगा कि धर्मक्षेत्रो मे विद्वानों ने ही सब कुछ किया और दूसरों का उसमे हाथ न था। वास्तविकता तो यह है कि ये सभी कार्य 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' के सदर्भ में चलता रहा और सभी अपनी–अपनी योग्यतानुसार धर्म मार्ग को प्रशस्त करते रहे–ज्ञान वाले ज्ञान और धन वाले धन देते रहे। इस मार्ग मे गिरावट तब आई जब विद्वान् स्वय ज्ञान–दान के लिए किसी प्रकार का ठहराव करने और किसी निश्चित राशि मे बँधने लगे और अन्य लोग विद्वान् को बदला चुकाने की बात सोचने के आदी बन गए। हो सकता है इसमे एक दूसरे की ओर से प्रस्तुत कोई ऐसे अन्य कारण उपस्थित हुए हो जिनसे दोनो को मार्ग बदलने को मजबूर होना पड़ा हो। काश, ये विचारा गया होता कि किसी के ऋण से कभी उऋण नही हुआ जा सकता तो ये प्रसग उपस्थित न होता। बाद को और भी बहुत–सी विसगतिया पैदा होने लगी। लोगो ने प्रदत्त धन या दान–द्रव्य से निर्मित उपकरणो–भवनादि मे अहम्भाव को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। वे त्याग कर भी इस सम्पदा को अपना और अपने विद्वान् को पराया समझने लगे। कुछ विद्वान् भी आचार–विचार मे शिथिलाचारी और समाज से निराश होते रहे। ऐसी विसगतियो को दूर किया जाना चाहिए।

वास्तव मे ज्ञान–दान का कोई मूल्य नही। विद्वान् तो समाज से पोषण पाकर भी समाज के गुरु ही हैं और उनकी श्रेणी माता–पिता से भी उच्च है। जैसे लोग अशक्त माता–पिता की सेवा करते है, उनका भरण–पोषण करते है वैसे ही उन्हे विद्वानो की सेवा करनी चाहिए। यदि समाज विद्वानो के साथ ये सब व्यवहार करे तब भी विद्वानो के ऋण से उऋण नही हो सकता। आखिर, कोई देगा तो विद्वान् को कितना भौतिक धन–वैभव दे सकेगा? जो भी वह देगा सब यही छूट जायेगा–नश्वर होगा। जबकि विद्वान् का दिया हुआ ज्ञान–धन जन्म–जन्मान्तरो तक साथ जायगा और सद्गति मे सहायक होगा। फिर–जब विद्वान् ने अपना तन–मन सब कुछ समाज के लिए अर्पण कर दिया हो तब उसके मुकाबले मे भौतिक सम्पदा अकिंचन

ही है। अतः समाज का कर्तव्य है कि माता–पिता और धर्म–उपकरण मन्दिर आदि की भांति विद्वानों का सरक्षण करें और विद्वान भी सदाचारी धार्मिक और निर्भीक रहकर, समाज के होकर धर्म–प्रभाव मे तत्पर रहें।

ध्यान रहे, विद्वद्गण समाज के ऐसे धन हैं जो उसकी धर्म–सम्पदा की रक्षा और वृद्धि में सहायक होते हैं। समाज विद्वानो के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता। और तो और–विद्वान् हमारी मरणासन्न दशा में भी हमारी समाधि करा हमारी सद्गति में कर्णधार बनते रहे हैं। इनके अभाव मे धार्मिक जगत् मे अन्धेरा छा जायगा और हम भटक जाएँगे। ऐसा अनर्थ न हो, अत उद्यम करना चाहिए कि कैसे विद्वानों की रक्षा की जाय और कैसे विद्वद्वश बढ़ाने मे साधन–भूत धार्मिक सस्थाओं को दृढ़ किया जाय? जरा सोचिए।

आगम रक्षा : एक समस्या

सर्वमान्य आगम तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि मे आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'श्रुत मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेद' सूत्र की व्याख्या मे आगम–वक्ता के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं और वे वक्ता रत्नकरण्ड मे मान्य देव, गुरु के लक्षण से पूर्ण मेल खाते है और मूल आगम के सच्चे वाहक ये ही हो सकते है तथाहि–'त्रयो वक्तार । सर्वज्ञ तीर्थंकर । इतरो वा श्रुतकेवली। आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमचिन्त्य केवलज्ञानविभूति विशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट । तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैवृद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थ–रचनमंगपूर्वलक्षण तत्प्रमाणएतत्प्रामाण्यात्। आरातीयैर्पुनराचार्यै कालदोष–सक्षिप्तायुर्मतिर्बलशिक्षानुग्रहार्थ दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध तत्प्रमाणमर्थ–तस्तदेवेदमिति। क्षीरार्णव जल घटगृहीतमिव।' –सर्वार्थ १–२०

अर्थात् वक्ता तीन प्रकार के है (१) सर्वज्ञ तीर्थंकर व सामान्य केवली, (२) श्रुतकेवली और (३) आरातीय। इनमे से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञान रूपी विभूति विशेष से युक्त है। इस कारण उन्होने

अर्थरूप से आगम का उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं इसलिए प्रमाण है। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि के अतिशय रूप ऋद्धि से युक्त गणधर श्रुतकेवलियो ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर अंग और पूर्वग्रथो की रचना की। सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण है तथा आरातीय आचार्यों ने, काल दोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्यो का उपकार करने के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीर सागर का जल घट मे भर लिया जाता है उसी प्रकार वे ग्रन्थ भी अर्थरूप मे वे ही है इसलिए प्रमाण है।

पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ आगम के कुछ लक्षण दिये जा रहे है। ये सभी लक्षण आगमो से उद्धृत हैं, इसलिए प्रमाण है, कल्पित नही। देखे–

१ 'तस्समुहग्गद वयण पुव्वावरदोसविरहिय सुद्ध।
आगममिदि परिकहिय ।।' नियमसार ८१

२ 'आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिदि–
यत्थ विसओ अचितिय सहाओ जुत्तिगोयरातीदो।'

–धवला पु० ६ पृ० १५१

३ 'आगम· सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत ।

–भग० आ० विजयो० टी० २३

४ 'आप्त वचनादि निबधनमर्थज्ञानमागम ।'

–परीक्षा ३।९९ न्यातदी० पृ० ११२

५ 'आगमो वीतराग वचनम्।' –धर्म.र प्र स्वी वृ पृ ५६

६. 'अत्तस्सवयणमागमो।' –अनु० चू ७ पृ० १६

७ 'आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम्।'

–न्यायावतार, रत्नकरण्ड ९

अर्थात्–केवली के मुख से प्रकट वचन पूर्वापर दोषरहित, शुद्ध हैं। उनके द्वारा कहे गये वचन आगम हैं। जो केवलज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय· अतीन्द्रिय पदार्थों को (भी) विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय से परे है उसका नाम आगम है। सर्वज्ञ जो (नियमत·) राग द्वेष रहित है उनके द्वारा रचा गया आगम है। आप्त वचनादि से होने वाले पदार्थ ज्ञान का नाम आगम है। वीतराग वचन को आगम कहते हैं। आप्त के वचन आगम है।

आगम लक्षण के उपर्युक्त क्रम मे सातवा क्रम न्यायावतार और स्वामी समतभद्र के मन्तव्यो का है। श्लोक की उत्थानिका मे क्रमश –'तत्किभूतमिति तद्विशेषणान्याह' (शास्त्र कैसा है, उसके विशेषण कहते है) और 'कीदृश तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह' (जो उन्होने रचे है वे शास्त्र कैसे हैं) लिखा है। अर्थात् श्लोक मे दिए गए सभी विशेषण आप्तोपज्ञ (आगम) के है और ये विशेषण आप्तोपज्ञ होने के कारण से ही है। कहा भी है–'यस्मात्तदाप्तोपज्ञ तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लघ्य। कस्मात्? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लघ्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र तत्तस्तत्सार्वं।'–(प्रभाचन्द्र वृत्ति ९) अर्थात् वे आप्त द्वारा कथित होने से इन्द्र आदि (आचार्यो) द्वारा अनुल्लघ्य है, सर्वज्ञप्रणीत होने से सर्व हितकारी–सार्वजनीन है। अत हम ऐसा मानते है कि आगम सर्वज्ञवाणीरूप होने से स्वय प्रमाण और अपरीक्ष्य है। इसके सिवाय ऊपर लिखे आगम लक्षण (न० २) मे तो धवलाकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि–आगम युक्ति आदि के गोचर नहीं हैं। ऐसी अवस्था मे स्वय अप्रमाणिक, हम जैसा कोई मन्दबुद्धि यदि अपनी कमजोर बुद्धिरूपी कमजोर कसौटी पर कसकर आगम मे प्रामाणिकता लाने की बात करे तो इसे आगम की अवहेलना ही कहा जायगा। भला, कोई मदबुद्धि सर्वज्ञवाणी (आगम) की परीक्षा करेगा भी कैसे? एक ओर तो हम आगम को स्वत· प्रामाण्य माने और दूसरी ओर किन्हीं विशेषणों से उसकी परख की बात कर, आगम को परत प्रामाण्य सिद्ध करने की बात करे तो यह आगम के स्वत प्रमाण्य का विरोध ही होगा।

सच तो यह है कि हम दिगम्बर सर्वज्ञ की मूलवाणी और श्रुत केवलियो द्वारा सकलित अग–पूर्वों का सर्वथा लोप मान बैठे या शेष रहे दृष्टिवाद श्रुत की सीमा मे न रह सके और कुछ लोग 'अनात्मार्थ विनारागै:' की अवहेलना कर सग्रथो और आरम्भियो की कृतियो को आगम मे मिश्रित कर उन्हे आगमरूप मे अर्घ चढ़वाने लगे, तब आगम की परीक्षा की बात पैदा हुई। जबकि अल्पबुद्धि और परिग्रहियों के लिए आगम–परीक्षण कार्य सर्वथा अशक्य है–'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।'–जैसा कि आज हो रहा है और जिसके कारण इसे निकालो, इसे रखो जैसा आदोलन चल पड़ा है।

यद्यपि प० प्रवर टोडरमल जी से पहिले, चामुण्डराय, प० आशाधर और राजमल प्रभृति श्रावकों द्वारा अनेक ग्रथ लिखे गये और वे पडित जी के समक्ष (जानकारी मे) थे, पर पडित जी ने अपने स्वाध्याय ग्रथो मे उन्हे स्मरण न कर परम्परित मान्य आचार्यों (निर्ग्रन्थ गुरुओ) के ग्रथो को ही सम्मान दिया। यदि सग्रन्थो द्वारा रचित ग्रथ आगम होते तो पडित जी उनमे से किसी एक के नाम का तो उल्लेख करते, जैसा उन्होने नही किया। फलित होता है प० जी की दृष्टि परपरित आचार्यों को प्रमाणिक मानने तक ही सीमित रही है। सर्वार्थसिद्धि मे आचार्यों को आगम वक्ता स्वीकार किया ही है–गृहस्थो को नही।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान मे आगम वे ही हैं जो आप्तकथित और परम्परित प्रामाणिक निर्ग्रन्थ–गुरुओ द्वारा (जैसा कि सर्वार्थसिद्धि मे कहा गया है) निबद्ध हो। अन्य कृतियो को हम आगमानुसारी कह सकते है और वह भी गारण्टी के बिना। कारण स्पष्ट है कि गृहस्थियो में 'अनात्मार्थ बिना रागै' पन घटित नही होता और वे विषयो की आशा से रहित, निरारम्भी और निष्परिग्रही नहीं होते और इन गुणो के बिना वे आप्त और निर्ग्रन्थ गुरुओ जैसा निर्दोष व्याख्यान नही कर सकते। आगम लक्षणो से और सर्वार्थसिद्धि १–२० की टीका से भी हमारे कथन की पूर्ण पुष्टि होती है।

अमुक को रक्खो, अमुक को निकालो जैसी एक लक्ष्य विकृति के निवारणार्थ हम पहिले भी कह चुके है कि–'मन्दिरों में मूल के सिवाय कोई भी वह कृति न रखी जाय जो किन्हीं परम्परित आचार्यवर्य की न हो।' इसमें हमारा भाव 'आगमरूप मे न रखी जाय' ऐसा रहा है। जैसा कि हमने अपने लेख के प्रारम्भ मे स्पष्ट भी कर दिया है–'अमुक आगम है, और अमुक आगम नहीं है, अमुक को निकालो, अमुक को रखो ऐसी चर्चा चारो ओर है', आदि। उक्त प्रसग हम आज भी दुहराते है और चाहते है कि विवाद शान्त करने के लिए सभी प्रकार की घुसपैठ रोक दी जाय। पूर्वाचार्यों के आदेशानुसार परम्परित निर्ग्रन्थ आचार्यों की रचनाए ही आगम श्रेणी मे मानी जाय और अन्यो–कृत भावार्थ, विशेषार्थ, खुलासा अर्थ और स्वतन्त्र रचनाओं को (जिनसे मतभेद–विवाद पनप सकता है) आगम न कहा जाय। भले ही उसे आगमानुरागी श्रेणी मे, (बिना किसी गारण्टी के) रख लिया जा सकता हो। किसी प्रकार की कोई सीमा न होने से एक मन्दिर मे तो हमने एक अभिनन्दन ग्रन्थ तक को शास्त्र की चौकी पर, स्वाध्याय के रूप मे देखा है। यानी कुछ भी हो, कोई ग्रथ हो, चल मन्दिर मे–ऐसी परम्परा चल पड़ी है। सोच लेना चाहिए कि समोसरण कोई ऐसी लाइब्रेरी नही है जहाँ सभी प्रकार के ग्रंथ रख दिए जाय। मन्दिर की अपनी मर्यादा है, मन्दिर मे शास्त्र–भण्डार है, जिसमे मूल और प्रामाणिक दिव्यध्वनि ही स्थान पा सकती है। पूजा और जैन पदो की पुस्तके वीतरागभक्ति के लिए रखी जा सकती हैं।

हम जिन, जैन, जिनवाणी और अपने विद्वान् गुरुगण तथा गुरुसमो के श्रद्धालु है। लोग जिन भाषातरकार विद्वानो के गुणगान करेगे, शायद उन विद्वानो के अपेक्षाकृत हम अधिक भक्त होगे। कितनो ही को तो हम किसी हद तक प्रामाणिक भी मानते होगे। पर, हमसे यह पाप न हो सकेगा कि हम उन्हें 'जिन' और निर्ग्रन्थ आचार्यों के सम बिठा, उनके भाषान्तरों आदि को जिनवाणी के साथ अर्घ दिला जिनवाणी की अवहेलना करे। उनके भाषान्तर चाहे बहुमत की दृष्टि मे ठीक ही क्यों न हो? हम तो

उन भाषान्तरो को आगमानुकूल भी हो सकते हैं ऐसा कह, आगम नही हैं—ऐसा ही कहेगे। हमारा यह भी विश्वास है कि स्वय कोई भाषान्तरकार भी अपने भाषान्तर को आगम घोषित करने की चेष्टा न करेगा। अस्तु

जब हमने परम्परित प्रामाणिक निर्ग्रन्थ आचार्यों की मूलकृतियो मात्र को मन्दिरों मे रखने की बात कही तो एक प्रमुख ने हमसे कहा—इससे तो आगम भाषा से अजान लोगों का सकट बढ़ जायगा। हमने कहा—अपना संकट बचाओ या मूल आगम की रक्षा करो। दोनो बाते तभी हो सकती है जब विद्वन्मुख से मूल का (मौखिक रूप) अर्थ सुना जाय। अर्थ के मौखिक होने से किसी गलत रिकार्ड बनने की शका भी न रहेगी और आगम भी सुरक्षित रहेगा। प्रारम्भिक समय मे ऐसा ही होता रहा है। भाषान्तरकारो की लेखरूप मे भाषान्तर करने की उदारता भी आज सभावित भावी विद्वत्समाज के वश को ले बैठने मे एक कारण बनी है? क्योकि आज सभी को भाषान्तर सुलभ है—चाहे वे गलत ही क्यो न हो—लोग उन्हे पढ़ते है। उन्हे विद्वानो की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वे विद्वानो के उत्पादन से मुख मोड़ बैठे है। पाठशालाए भी समाप्त प्राय है। पडितो ने अपनी पीढ़ी तैयार करने से भी इसीलिए विराम लिया है कि अब समाज को उनकी आवश्यकता नही। भाषान्तरो की बहुतायत से पहिले एक समय था जब सरस्वती सदा लक्ष्मी के सिर पर बैठती थी—लोग पडितो को सम्मान देते थे, जबकि आज लक्ष्मी ने सरस्वती को दासी बना लिया है। दूसरी बात इन भाषान्तरो से यह हुई कि आगम मे अनागम भी घुसपैठ करने लगा—गलत भाषान्तर भी अर्घ पाने लगे—जिनवाणी अप्रामाणिक (मिश्रित) होने लगी। और तीसरी बात जो सर्वाधिक भयावह है वह है—मूल आगम के भावी लोप का प्रसंग। जब सभी लोग मूल की उपेक्षा कर मात्र भाषान्तर पढ़ते रहेगे तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब मन्दिरो मे शेष बचा मूल—आगम भी रखा—रखा जीर्ण—शीर्ण हो जायगा। लोगों के ज्ञान मे तो उसके रहने का प्रश्न ही नही।

हम यह भी जानते है कि हमारी उक्त योजना से धार्मिक–साहित्य के प्रति व्यापारी मनोवृत्ति के लोगो के मन और उनके व्यापार को धक्का लग सकता है, वे इसका विरोध भी करे तो हमे आश्चर्य नही। पर, हमें यह भी इष्ट नही कि किसी व्यापार के लिए धर्म और आगम का स्वरूप ही बदल दिया जाए। सोचने की बात यह है कि जिस धर्म के अपने मूल–आगम ही सुरक्षित नहीं रहे उस धर्म के अनुयायी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं? फिर तो ऐसा ही होगा कि अपने को जैन घोषित करते रहो और जैसी चाहो धर्मविमुख प्रवृत्तियॉ करते रहे। आखिर, रजनीश भी तो भगवान न होते हुए, अपने को भगवान घोषित किए बैठे हैं।

हम एक बात फिर कह दे कि हम जो विचार देते है नम्र होकर देते हैं और वे हर व्यक्ति को विचार कर निर्णय के लिए होते हैं। किसी खडन–मडन या उत्तर–प्रत्युत्तर के लिए नही होते। पसद आएँ तो ग्रहण करे अन्यथा छोड़ दे। यह हम इसलिए भी लिख रहे है कि कोई सज्जन इन्हे समाज मे विघटन का मुद्दा न बना ले जैसी कि आज प्रथा चल पड़ी है। हमारी भावना यही है कि –मूल आगम सुरक्षित–निर्दोष रहे, विद्वानो का उत्पादन हो, पाठशालाऍ चले और मूल–आगम को विद्वन्मुख से मौखिक रूप मे पढ़ा और सुना जाने की परिपाटी पुन चालू हो। मौखिक इसलिए ताकि कोई गलत रिकार्ड न बने–सभी विद्वान् विभिन्नमति हो सकते है–कोई अर्थ मे चूक भी सकते है। हम बारम्बार विनम्र प्रार्थना करते रहे है कि अमूल्य जिनवाणी की रक्षा हेतु हल्के और काल्पनिक यद्वा–तद्वा लेखन नए प्रकाशन के व्यापार को बन्द कर प्राचीन मूल आगम ग्रन्थो के प्रकाशन, पठन–पाठन पर बल दिया जाए।

क्या कहे? आज जन–दृष्टि प्राय 'पर' पर केन्द्रित हो बैठी है, सभी 'पर' के सुधार को लक्ष्य बनाए हुए है। पूछते है–हमारा लड़का कैसे धर्मात्मा रह सकेगा या अमुक अन्य का सुधार कैसे हो सकेगा? नई पुस्तके छपाने और जन साधारण मे उनके प्रचार को भी उन्होने इसीलिए चुन रखा है। ऐसे लोगो को मालूम होना चाहिए कि यदि उनका ज्ञान, ध्यान और

आचरण ठीक होगा तो आगे सभी ठीक होगा। अत उन्हें पहिले अपना व्यवहार सुधारने पर बल देना चाहिए। आज नेता चिल्लाते हैं, कोई सुनता नहीं, नेता को खीझ उठती है। यही खीझ यदि नेता को अपने आचरण के प्रति उठे, तब कार्यसिद्धि हो। हमारा निवेदन है कि नेतागण और सर्व साधारण, सभी मूल जिनवाणी को गुरुमुख से पढ़ें, उसे समझें और तदनुरूप आचरण करे तो सभी धार्मिक प्रसग सहज स्थिर और उन्नत हो सकते हैं और जिनवाणी भी सुरक्षित रह सकती है।

धर्म प्रभावना कैसे हो?

वीतराग के आगम में परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्ही विचारधाराओ को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनो सुरक्षित होते है। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से ही हमें इसकी स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अंगुल अधर चलते है और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते है—अन्तरग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति में हमे सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म के लिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नहीं हो गई है? तीर्थ यात्राओं में तीर्थ (धर्म) की कमी और सासारिक मनौतियो की बढ़वारी तो नही है? मात्र छत्र चढ़ाकर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की माग तो नही है? जिन्हें तीर्थंकरो ने छोड़ा था उन भौतिक सामग्रियों से लोग चिपके तो नहीं जा रहे? कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो? कतिपय जन अपने प्रभाव

से जनता को बाह्य आडम्बरो की चकाचौंध में मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नहीं देने लगे? जहाँ तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि के प्रचार–प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहाँ आज उनका स्थान रागी, राजनीति–पटु और जैन–तत्वज्ञान शून्य–नेता तो नही लेने लगे? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमे स्वयं प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यो हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रो मे उपदेश है और समाज के जितने अग हैं–मुनि, व्रतीश्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समतभद्र के शब्दों मे–

'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।।'–१८।।

अर्थात् अज्ञान–तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन की–जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना–प्रभावना है। प्रभावना में हमें यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमे धर्ममार्ग मलिन तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य–उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सासारिक वासनाओ की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सासारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म सेवन नही करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है–

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिगिनाम्।
प्रणामंविनयंचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।।'

सम्यग्दृष्टि जीव भय–आशा–स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओ को प्रणाम विनय (आदि) नही करते है। आगे ऐसा भी कहा है कि राग द्वेष से मलीन–लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसग की उपस्थिति में उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढ़ता और

लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन में उपदेश है। यहाँ तो वीतरागता मे सहायक साधनो–सुदेव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा उपासना की आज्ञा है। आर्षज्ञाताओ से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण मे सावधान रहते है तो धर्म प्रभावना ही धर्म प्रभावना है। अन्यथा यत्र–मत्र–तत्र करने और सासारिक सुखो का प्रलोभन देने वालो की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमे सोचना है कि हम कौन सा मार्ग अपनाएँ?

सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो ही नही होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वो को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय मे आचार्य कहते है–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्य विना च विपरीतात्।
नि:सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन:।।

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वो को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान–सम्यग्ज्ञान होता है। अत श्रावक व मुनि दोनो को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो–मोक्षमार्ग मे सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना करनी चाहिए।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी क्या है?

चिट्ठी हम लिखते है, और वे भी लिखते है। पर वे दूसरे 'वे' होते है जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते है। आप कहेगे आज भी ऐसी चिट्ठियो का चलन है जो रहस्यपूर्ण और गोपनीय होती है। बहुत–सी रहस्यपूर्ण चिट्ठियाँ अनेको गुप्तचरो द्वारा पकड़ी जाती है, सेन्सर की जाती है और अनेको रहस्य खोलती है। पर, यदि आगम दृष्टि से देखा जाय तो वे चिट्ठियाँ रहस्यपूर्ण नहीं होती–धोखे को पकड़ने का धोखा भरा साधन मात्र होती है। जो लिखता है वह स्वय धोखे मे रहकर दूसरे को धोखा देता है और पकड़ने वाला उस धोखे को धोखे मे पकड़ता है–फलत न वह रहस्य होता है और ना ही रहस्य को पकड़ने (का दम्भ भरने) वाला रहस्य को पकड़ पाता है।

'रहस्य' शब्द बड़ा रहस्यमय है। इसे रहस्य के पारखी ही जानते हैं। वे जब लिखते है। तब रहस्यमय, समझते है तब रहस्यमय और कहते है तब भी रहस्यमय। रहस्य वस्तु–स्वरूप में तिल में तेल से भी गहरा–पूर्ण रूप से समाया हुआ है। जैन–दर्शन के अनुसार तो हर वस्तु रहस्यमय है तथा हर वस्तु का रहस्य भी अपना और पृथक् है। अपने रहस्य को बतलाने और समझने वाले ही वास्तविक लेखक और वास्तविक वाचक हैं। यदि आप अपना (आत्मा का) रहस्य अंकित करते हैं तो आप रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते हैं। पहिले ऐसी चिट्ठिया लिखी जाती रही है और लोग उनका पूर्ण लाभ भी उठाते रहे है आगम–मार्ग में रहस्यपूर्ण चिट्ठी वे हैं जो प्रयोजनभूत–आत्मा का रहस्य खोलती है। ऐसी चिट्ठियो मे हमे ऐसी चिट्ठी प० प्रवर टोडरमल जी की मिलती है, जो उन्होने मुल्तान के आध्यात्मिक श्रावको को लिखी थी। वे लिखते है–

'वर्तमानकाल मे आध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य है जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करे है, सो ही कहा है–

'तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हिं श्रुता।
निश्चित सः भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्।।'

भाव यह है कि जिस जीव ने प्रसन्नचित्त होकर इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात सुनी है वह निश्चय–भव्य है और निर्वाण का पात्र है।

पाठक देखे कितना रहस्य है इन चन्द पक्तियो मे? विचारने पर क्या ये अन्तरग को झकझोर कर जगाने के लिए पर्याप्त नही हैं? जो इन्हे पढ़ेगा–विचारेगा अनुभव मे लाएगा वह अवश्य ऐसे रहस्य को पाएगा जिसे कोटि–कोटि तपस्वियो ने कोटि–कोटि तपस्याएँ करके भी कठिनता से पाया हो।

अपनी चिट्ठी मे प० प्रवर ने किन–किन रहस्यों को खोला है ये हम आगे लिखेगे ये प्रसग तो रहस्यपूर्ण चिट्ठी की परिभाषा मात्र का था। अस्तु।

सम्यग्ज्ञान क्या है?

मोक्ष मे प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वो को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। श्रावक और मुनि दोनो मे इस ज्ञान का होना आवश्यक है, बिना इस ज्ञान के वह मोक्ष का उपाय नही कर सकता और न ही उसका ज्ञान सार्थक हो सकता है। लोक मे भौतिक–सासारिक विषयों की खोज और उनमें प्रवृत्ति के सूचक जो ज्ञान देखे जाते है और जिनके आधार से ज्ञानी की पहिचान की जाती है–वे सभी ज्ञान आत्म–मार्ग मे सहायी न होने से मिथ्या ज्ञान की श्रेणी मे आते है–लोक व्यवहार मे चाहे वे सही भी क्यो न हो?

ज्ञान के मिथ्या या सम्यक् होने मे मूल कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन है और इसीलिए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को प्रथम रखा है। भाव ऐसा है कि मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत जीव–अजीव–आस्रव बध–सवर–निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो को सशय, विपर्यय ओर अनध्यवसाय रहित यथातथ्य–जैसे का तैसा जानना सम्यक्ज्ञान है। पडित प्रवर टोडरमल जी ने इस विषय को इस भाँति स्पष्ट किया है–'बहुरि यहाँ ससार' मोक्ष के कारणभूत साचा झूठा जानने का निर्द्धारण करना है, सो जेवरी–सर्पादिक का यथार्थ व अन्यथा ज्ञान ससार, मोक्ष का कारण नाही तातै तिनकी अपेक्षा इहाँ मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान न कहा। इहाॅ प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वनि ही का जानने की अपेक्षा मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहा है।' धूप मे चमकती हुई सीप को देख कर ऐसा विकल्प करना कि यह सीप है या चाँदी–सशय कहलाता है। चमकती हुई सीप को चाँदी रूप जानने का नाम विपर्यय–उल्टा ज्ञान है और मार्ग में चलते हुए यदि पैर में कोई तिनका चुभ जाय तो उसमें विकल्प उठा कर कि ये क्या है, उसी क्षण (बिना निर्धारण के) उपेक्षा भाव लाकर आगे बढ़ जाना–कि कुछ होगा, यह अनध्यवसाय है। सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो भी नही होते। और सम्यग्ज्ञान के लक्ष्य, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व होते है।

आप इतने क्रूर तो न थे?

भगवान महावीर का अहिंसामयी धर्म पालन करने के लिए हमें अपने दैनिक जीवन मे पर्याप्त परिवर्तन लाना होगा–हिंसाजन्य सौन्दर्य प्रसाधन सामग्रियो का सर्वथा परित्याग करना होगा। विविध सौन्दर्य प्रसाधन किस भाँति और किन जीवो की बलि देकर निर्मित किए जाते हैं, इसकी संक्षिप्त झलक 'इनकी जिन्दगी आपका फैशन' से चुन कर यहाँ दी जा रही है–आशा है महावीर के अनुयायी इससे लाभान्वित होगे।

बिज्जू का सैण्ट–

बिज्जू नामक जानवर बिल्ली से बहुत छोटा होता है। बहुत कम लोगों ने इसे जगल मे देखा होगा। चिड़ियाघरो मे भले ही देखा हो। इस छोटे से जानवर को बेतो से पीटा जाता है ताकि यह उद्वेलित हो जाय। उद्विग्न अवस्था मे इसके शरीर से वह तरल पदार्थ निकलने लगता है जिसमे से सुगन्ध निचोड़ा जाता है और उसकी ग्रन्थी को चाकू से खरोंचा जाता है।

सौन्दर्य प्रसाधन–

"स्लैन्डर लोरिस" नामक छोटे से बन्दर जो भारत मे अब बहुत कम सख्या मे रह गये है क्योकि इसका शिकार अत्यधिक किया जा चुका है। असकी ऑखे बाहर निकाल ली जाती है इसका दिल बाहर निकाल लिया जाता है। इन दोनो को पीस कर सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाई जाती है।

कोट कपड़े आदि–

चूहे जैसा ही जानवर होता है 'बीवर'। इसके शरीर से निकला तेल सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने मे काम आता है। इसकी खाल के कोट बनते है। छोटा–सा यह जानवर रुमाल बराबर है। करीब ६० ऐसे जानवरो की खाल से एक व्यक्ति का कोट बनता है।

सील–

सील मछली के बच्चो के साथ भी क्रूरता कुछ कम नही होती है। कनाडा मे बेसबाल खेलने के बल्ले जैसे डण्डे से इस मछली के बच्चो की लगातार तब तक पिटाई की जाती है जब तक वे मर न जाएँ। नारवे मे तो लोहे की तीखी सलाख सील के बच्चों के सिर में घुसा दी जाती है और उसकी खाल तुरन्त उतारने के लिए उसे चीर दिया जाता है। बेचारी माँ अपने शिशु के क्रन्दन को सुनती रहती है। जब शिकारी चले जाते है तो वह अपने शिशु के अस्थिपजर के समीप आकर अपने मुँह से उस लहूलुहान के पिण्ड को सूघती है। कहाँ गया उसका शिशु? वह तो सदा के लिए विलुप्त हो गया। खाल किसी रईस का कोट बन गई।

मिन्क–

मिन्क नामक जानवर पानी मे रहता है और इसके बाहर भी। इसका कसूर सिर्फ इतना है कि मुलायम बाल वाली इसकी खाल अत्यन्त मोहक एव लुभावनी होती है। अत मिन्क पर कहर ढाया जा रहा है। रईस लोगो के कोट की खातिर मिन्क का व्यापक वध हो रहा है। "चिनचिला" नामक दक्षिणी अमेरिका के जानवर को भी मिन्क की भाँति अकारण सजा–ए–मौत सहनी पड़ रही है।

कराकुल–

कराकुल भेड़ के बाल बड़े घुघराले और खाल अत्यन्त नरम होती है। मनचले लोग अपने शौक की पूर्ति के लिए इसी खाल के कपड़े या टोपी पहनना चाहते है। लेकिन मेमने के पैदा होते ही इसके बालो का मुलायमपन कम हो जाता है। अत मादा भेड़ को गर्भावस्था में ही बेंतो से पीटा जाता है। बेतो से इस कदर उस पर प्रहार किया जाता है कि उसके प्राण पखेरू उड़ जाए। मरते ही उसके पेट से होने वाले मेमने को निकाला जाता है। क्रूरता की पाशविकता इससे अधिक क्या होगी कि उस मेमने की खाल जिन्दा अवस्था मे ही उतार ली जाती है।

पर्स या सूटकेस–

लोग कहते है मगरमच्छ सदा मुह खोलकर हँसता रहता है लेकिन लोगो की हँसी ज्यादा क्रूर है। मगरमच्छ को पानी से बाहर चालाकी से लाया जाता है और उसे जल विहीन परिस्थिति मे छटपटाने को मजबूर किया जाता है ताकि उसकी मौत करीब, और करीब आती जाए। यकायक उसकी नाक मे एक पैना छुरा घोप दिया जाता है ताकि उसका जीवन समाप्त हो जाये।

मगरमच्छ की खाल पर बहुत लोग आंख लगाए हुए हैं क्योंकि उसका उपयोग चमड़े के रूप मे महिलाओ के "पर्स" या "सूटकेस" आदि बनाने मे किया जाता है।

कुत्ता–

कुत्ता तो अगरक्षक होता है। लेकिन आदमी उसकी जान का भी भक्षक बनता जा रहा है। बेशकीमती नस्ल के कुत्तो को एक साथ खड़ा करके उनके शरीर मे विद्युत का करन्ट प्रवाहित किया जाता है। कापते, सिहरते, कपकपाते हुए कुत्तो का झुण्ड का झुण्ड दम तोड़ देता है। इनके नरम कान का उपयोग "पर्स" बनाने मे होता है।

शुतुर्मुर्ग–

हर छठे माह शुतुर्मुर्ग के पख नोचे जाते है क्योकि लोगो को इस विशालतम पक्षी के पखो से प्यार है। पख नोच लिए जाने के बाद इसकी खाल नोची जाती है। खरोचने और नोचने का यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि शुतुर्मुर्ग के प्राण पखेरू उड़ न जाएँ। खाल का थैला बन जाता है और पख आपके टोप मे खोस लिए जाते हैं।

रेशम–

रेशम तो देखी है। पहनी भी होगी ही। रेशम का कीड़ा देखा है? रेशम का धागा प्राप्त करने मे इसके कीड़े को जो मरणान्तक पीड़ा का सामना करना पड़ता है उसके बारे में कभी अन्दाज भी लगाया है? रेशम के एक

कुर्ते की खातिर कितने हजार कीड़ों की जीव हत्या होती है? किस पीड़ा से उन्हें मारा जाता है?

देखा आपने, मूक–जीवो को कितनी यातना दी जाती है? लोगों के सौन्दर्य–प्रसाधन हेतु? फिर भी पशु–पक्षियों की हत्या और उनके साथ अमानवीय व्यवहार जारी है। औसतन एक जानवर को जिन्दा पकड़ने या एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में ५–७ जानवर मर जाते हैं। हाल ही में २० लाख जिन्दा मगरमच्छ अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बेचने के लिए एक देश से दूसरे देश मे लाए गए। परन्तु इनमे से आधे तो रास्ते मे ही मर गए।

अहिसा प्रेमियो को इस प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनो से सर्वथा बचना चाहिये।

मूल का संरक्षण कैसे हो?

आपने पढ़ा होगा नाम–कर्म की ९३ प्रकृतियो को। उनमे एक प्रकृति है 'स्वघात–नामकर्म।' इस प्रकृति के उदय मे शरीर की ऐसी रचना होती है, जिसमे स्व–शरीर के अग ही स्व–प्राणघात मे निमित्त हो जाते हैं। जैसे बारहसिगे के सींग। यदि कदाचित बारहसिगा जब कभी शिकारी के घात से भाग जाने के लिए बन मे दौड़ता है, तब उसके सीग घनी कटीली टेढ़ी–मेढ़ी झाड़ियों मे फस जाते है और वे सीग ही बारहसिगा के स्वय के प्रयत्न से उसके स्वयं के पकड़े जाने या वध में निमित्त हो जाते है। यह एक दृष्टान्त है जो शायद हमारे स्वय से प्रचारित किए प्रयत्नों पर लागू होता है।

सब जानते हैं कि जैनियो ने बहुत समय से आगमो की प्राचीन भाषा प्राकृत–सस्कृत को उपेक्षित कर केवल आधुनिक सुललित अन्य विभिन्न भाषाओ के रचना माध्यमों से धर्म के लेन–देन की प्रथा चालू कर रखी है। ये प्रसग मात्र जैनेतरो और विदेशियों हेतु उपस्थित हुए होते तो कदाचित इतनी चिन्ता न होती, पर आज तो जैन कुलोत्पन्नों को भी आगमों की

मूल भाषाओं से लगाव नही रह गया है और न इसका कोई प्रयत्न ही किया जा रहा है कि हमारी वर्तमान और आगामी पीढ़ी प्राकृत-संस्कृत भाषाओं की ओर आकृष्ट हो। अब तो लोगो को उनकी सहूलियतों के अनुसार धर्म के लेन-देन के प्रयत्न रह गये हैं। जो इन भाषाओ को नही जानते वे जन्मना: जैन हो या अजैन सभी को भाषान्तर (चाहे वे गलत ही क्यों न हों) दिये जा रहे है। अर्थात-

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउ।'-

पाठक जानते है समयसार की १५वी गाथा के उस अर्थ-प्रसंग को जिसके 'अपदेस' और 'सन्त' शब्द आज भी सु-संगत अर्थ को तरस रहे हे। कही 'सत' के स्थान पर 'सुत्त' मानकर द्रव्य-श्रुत और भावश्रुत अर्थ स्पष्ट है तो कहीं 'अपदेस' और 'सत' के अर्थ क्रमश. 'प्रदेश-रहित' और 'शान्त' (रस) किए जा रहे हैं और कही 'सत' के अर्थ को 'सत्' शब्द से घोषित कर उसे आचार्य-समत व प्रामाणिक बतलाया गया है। इसी तरह 'अनादिरक्तस्य तवायमासीत य एव सकीर्णरस: स्वभाव। मार्गावतारे हठमार्जित श्री स्त्वयाकृत. शान्तरस: स एव।।'-कारिका मे 'शान्तरस.' का अर्थ कही 'शान्त (नामा) रस' और कही 'रसो से शान्त-रहित' अर्थ किया जा रहा है, आदि। ढूढ़ने पर ऐसे ही अन्य बहुत से प्रसग और भी मिल जाएगे जिनकी व्याख्याओ मे विवाद हो।

ऐसे विवादास्पद स्थलो का कालान्तर मे भी निर्णय कब और कैसे हो सकेगा? जबकि आगम की मूल प्राकृत और संस्कृत भाषाओ को ही भुला दिया जायगा या हमारे सामने उनके मनमाने ढंग के परिवर्तित मूलरूप रख दिए जायेगे? हमारी दृष्टि से विषय-स्पष्टता और उसकी प्रमाणिकता के लिए आगम की मूल-भाषा प्राकृत-संस्कृत व यथासम्भव-पूर्वाचार्योकृत उपलब्ध उनकी व्याख्याओं का और मूल भाषा के जानकारों का कालान्तर मे सदाकाल रहना परमावश्यक है। जबकि आज के वेत्ताओ (?) की दृष्टि दोनों ही दिशाओं मे उदासीन है-वे मात्र भाषान्तरों (जिनसे कहीं २ भाव

स्खलित भी होता है) के प्रचार मे लगे है और भविष्य के लिए जैन-सिद्धान्त-मर्मज्ञ विद्वानों के उत्पादन-प्रयत्नो मे भी शून्य हैं।

इस बात को दृढ़ता के साथ कहने में हमें तनिक भी संकोच नही कि-आयु के किनारों पर बैठे सिद्धान्त के धुरन्धर गिने-चुने वर्तमान विद्वानो के बाद इस क्षेत्र मे अंधेरा ही अंधेरा होगा। और हम नहीं समझ पा रहे कि तब सिद्धान्त के किन्ही रहस्यो को समझने-समझाने के लिए हम किसका मुह देखेगे?

यद्यपि प्रचलित प्रयत्नो से ऐसा आभास तो होता है कि भविष्य मे हमे लच्छेदार-मोहक भाषा-भाषी अच्छे व्याख्याताओ की कमी तो न रहेगी-वे सभा को मोहित भी कर सकेगे तथापि आगम की मूल भाषा और जैन-दर्शन-न्याय के रहस्यो से अपरिचित होने और आद्यन्त मूल ग्रथो के पठन-पाठन से शून्य होने के कारण उनमे सिद्धान्त के रहस्यो को उद्घाटित करने की क्षमता दुर्लभ होगी। फलत -आवश्यकता है-

प्रचार करने की अपेक्षा आज मूल के सरक्षण और उसके तल-स्पर्शी ज्ञाताओ को तैयार करने की। आप इस दिशा मे क्या कर रहे है? जरा सोचिए।

क्या दिव्य-ध्वनि स्याद्वाद-रूप है?

"सिय अत्थि णत्थि उहय अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदय।
दव्व खु सत्तभगं आदेसवसेण सभवदि।।"-
तात्पर्यवृत्ति:-आदेसवसेण प्रश्नोत्तरवशेन।
बालबोधनी-विवक्षा के वश से।।" —पचास्तिकाय, १४

"कथंचित्तं सदेवेष्टं कथचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।।
वृत्ति:-नयस्यवक्तुरभिप्रायस्य योगो युक्ति-
र्नययोगस्तस्मान्नययोगादभिप्रायवशादित्यर्थ:।" —आप्तमीमासा १४

तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि स्याद्वादरूप–विविधनय–रूपी कल्लोलो से विमल है, ऐसा पढ़ने मे आता है, जैसे–'यदीया वाग्गगा विविधनयकल्लोल–विमला।' और यह भी पढ़ने मे आता है कि जिनवाणी गणधर देवो द्वारा गूथी गई। जैसे–

'तीर्थंकर की धुनि गणधर ने सुनि अंगरचे चुनिज्ञान मई।
सो जिनवर वाणी शिवसुखदानी त्रिभुवनमानी पूज्य भई।।"–आदि।

ये तो सब जानते है कि सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्ण और युगपत् है। वह निर्विकल्पक और विचार रहित भी है। उसमे समस्त द्रव्यो की भूत–भविष्यत् और वर्तमान–कालीन समस्त–पर्याये अस्तिरूप में स्वाभाविक, युगपत् झलकती है–उसमे अपेक्षावाद के अवसर और कारण दोनो ही नही है। क्योकि अपेक्षावाद श्रुतज्ञान पर आधारित हैं और वह नयाधीन भी है–वह सकलप्रत्यक्ष केवल ज्ञान की उपज नही है। इस बात को ऊपर दिए गए उद्धरणो से भी स्पष्ट जाना जा सकता है। उसमे 'आदेशवसेण' और 'नययोगात् न सर्वथा' पद इसी बात को स्पष्ट करते है। फलत सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि मे उनके ज्ञान के अनुरूप द्रव्यो का त्रैकालिक प्रत्यक्ष–अस्तित्व ही झलकता है–उसमे नास्तित्व के झलकने का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् वे, जो है, उसे जानते है, नही नामक कोई पदार्थ ही नहीं जिसे वे जान सके या जानते हो। स्याद्वाद का नहीं भी अपेक्षाकृत ही है और वह समय के व्यवहार की दशा मे है जबकि केवलज्ञान मे तीनों कालो की विवक्षा ही नही हैं–सभी युगपत् है। एतावता ऐसा मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जिसे हम जिनवाणी कहते हैं और जो 'स्याद्वाद–रूप' कही जा रही है वह पूर्ण–श्रुत ज्ञानी गणधरो द्वारा विविध नयो के सहारे द्वादशांगो मे गूथे जाने पर 'स्याद्वाद रूप मे फलित होती है। यानी गणधर देव वस्तु के समस्त अशो को युगपत् न जान पाने के तथा न कह पाने के कारण अपेक्षा के द्वारा क्रमश उसका दोहन करते हैं–और उस दोहन प्रकार को 'स्याद्वाद' कहा जाता है। भाव ऐसा समझना चाहिए कि–जिनवर की दिव्यध्वनि मे जिन भगवान के द्वारा कोई अपेक्षा कल्पित नही की

जाती–उनकी ध्वनि अपेक्षावाद स्याद्वाद रहित ही होती है। और श्रुतज्ञानी गणधरो द्वारा, अक्षरो द्वारा प्रकट किए जाने पर 'स्याद्वाद रूप' कहलाती है। कहा भी है –

'ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणों।' केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं" न किमपि वर्तनम् अतः स भगवान न च चेहते मनः प्रवृत्तेरभावात् अमनस्का केवलिनः' इति वचनाद्वा।

–नियमसार

'ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुभवदेसं णियदओतेसिं।
अरहंताण काले मायाचारव्व इत्थीणं।। –प्रवचनसार

वीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान के कोई भी वर्त्तन इच्छा पूर्वक नही होता है। इसलिए वे भगवान मन की प्रवृत्ति के अभाव होने पर 'अमनस्का केवलिन' इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ क्रिया स्वय नही करते। आगम मे जो योग की प्रवृत्ति के निमित्त से प्रकृति व प्रदेशबन्ध कहा है सो उपचारमात्र है। खड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहत अवस्था के काल मे स्वत नियम से ही होता है, जैसे स्त्रियो के नियम से मायाचार होता है। आदि। फलत –

ऐसा मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि–तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि भव्यजीवो के भाग्योदय से उनकी स्वय की जिज्ञासा से अनुरूप उस–उस भाव मे परिणत हो जाती है और प्रमाण (पूर्णज्ञान) रूप दिव्यध्वनि (नय–आंशिकज्ञान) गर्भित होने से श्रुतज्ञानी गणधरो द्वारा मन के साहचर्य से स्याद्वादरूप मे फलित की जाती है। इस विषय को सोचिए और निर्णय पर पहुचने के लिए विचार दीजिए।

भूल जो सदा कचोटती रहेगी!

वे रूढ़िये जो सदियो से चली आ रही है और जिन्होने धर्म के मूल–रूप को आत्मसात कर लिया है–ढक लिया है, इतनी गाढ़ी हो गई है कि उनका

रग सहज छूटने का नही। ऐसी रूढ़ियों में एक रूढ़ि है अपरिग्रह को उपेक्षित कर 'अहिंसा को मूल जैन-संस्कृति' प्रचारित करने की।

यू तो ससार के सभी मत-मतान्तर हिंसा को पाप और अहिंसा को धर्म बतलाते हैं। पर, जैनी इसमें सबसे आगे है। जब कभी कही अहिंसा का प्रसंग उठता है, जैनी बासो उछलते है और गर्व के वेग में कहते है कि-जैनियो द्वारा मान्य अहिंसा सर्वोपरि है जहाँ दूसरो मे अहिसा के व्यावहारिक रूपों को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है वहॉ जैन इसके मूल तक पहुचे है उन्होंने संकल्पित, कृत कारित, अनुमोदित, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूपो मे भी हिंसा के त्याग को अहिसा कहा है और 'सम्यग्योग निग्रहोगुप्ति ' का उपदेश दिया है, आदि। नि संदेह जैनियो की अहिसा पर सबको गर्व है। पर, इस गर्व मे कही सब इतने तो नहीं फूल गए हैं कि उनके द्वारा जाने-अनजाने मे जैन सस्कृति के मूल अपरिग्रह पर ही चोट हो रही हो?

जैनियो मे पॉच पाप माने गए है-हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। यद्यपि इन पाचो मे परस्पर मे कारण-कार्य भाव घटित हो सकता है और एक का दूसरे मे समावेश भी हो सकता है। परन्तु यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचारे तो सब पापो के मूल मे परिग्रह ही अभिन्न कारण बैठा दिखाई देता है। पूर्ण-अपरिग्रही (शुद्ध आत्मा) मे कोई भी पाप नही बनता। आचार्यों ने भी जीव-राशि को जिन दो भागो मे बाटा है वे ससारी और मुक्त जैसे दोनो भाग भी हिसा-अहिसा आदि पर आधारित न होकर परिग्रह-भाव और परिग्रह-अभाव की अपेक्षाओ से ही है जो जीव परिग्रह मे है वे संसारी और जो अपरिग्रही है वे मुक्त। फलत -हमे मूल पर दृष्टि रखनी चाहिए।

सब जानते है कि शास्त्रो मे कारण और कार्य दोनो को सर्व-मान्य तथ्य कहा है और जैन-दृष्टि से दोनो ही अनादि है। कारण भी किसी का कार्य है और कार्य भी किसी कारण के बिना नहीं होता। उक्त परिप्रेक्ष्य मे जब हम तत्त्वार्थसूत्र-गत 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिसा' इस हिंसा

के लक्षण को देखते हैं तब स्पष्ट होता है कि प्राणो के व्यपरोपण रूप कार्य हिसा है और प्रमाद उस हिंसारूप कार्य का कारण है, यानी–बिना प्रमाद के हिसा नही बन सकती। इसी प्रकार झूठ आदि पापो मे भी प्रमाद की कारणता है। और प्रमाद को परिग्रह कहा गया है। फलत. परिग्रह की मुक्ति से ही सर्व पापों और ससार से मुक्ति मिल सकती है और इसलिए हमे सर्वप्रथम मूल कारण परिग्रह को कृश करना चाहिए। लोक मे भी कहावत है कि 'चोर को मत मारो चोर की जननी को मारो।' जननी मर जायेगी तो चोरों की सतान परम्परा स्वय समाप्त हो जायेगी।

जैन तीर्थंकर महान थे उन्होने परिग्रह से मुक्त होने के लिए, परिग्रह की पहचान के हेतु स्व–पर भेद–विज्ञान करने को सर्वोपरि रखा। उन्हे स्व–से आत्मा और 'पर' से परिग्रह अर्थ लेना इष्ट था। क्योकि ससार या कर्म–रूप परिग्रह से छुटकारा पाए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती थी और स्व–पर भेद–विज्ञान के बिना परिग्रह को भी नही जाना जा सकता था। यही कारण था कि स्व–पर भेद–विज्ञान की सीढ़ी पर पद रखते दीक्षा के समय ही उन्होने सर्व सावद्य उन पाप जनक क्रियाओं से किनारा किया, जिनके मूल मे प्रमाद (परिग्रह) बैठा हो। शास्त्रो मे अवद्य का अर्थ गर्ह्य या निन्द्य कहा है (गर्ह्यमवद्यम्'–राजवा–७।९।२) और निन्द्य सहित जो भाव अथवा क्रिया है वह सर्व ही 'सावद्य' है। उक्त प्रकाश में केवल हिसा ही नही अपितु सभी पाप 'अवद्य' हैं और कारणरूप प्रमाद (परिग्रह) सभी के साथ है–ऐसा सिद्ध होता है।

शास्त्रो मे जहॉ भी सावद्य को हिसा जनक क्रियाओ के भावमात्र मे ग्रहण किया गया है वहॉ स्थूल दृष्टि से 'आत्मघात' के 'घात' शब्द को लक्ष्य करके ही किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। क्योकि घात और हिंसा एकार्थक जैसे है। कोषकारो ने अवद्य और सावद्य के जो अर्थ दिए हैं वे सभी पाचो (पापो) के लक्ष्य मे दिए हैं। अत इन शब्दो को मात्र हिंसा से ही जोड़ना और अन्य पापो पर लक्ष्य न देना किसी भी भॉति ठीक नहीं है। देखें–

अवज्ज (अवद्य)

(क) मिथ्याकषाय लक्षणे (आ म प्र) गह्ये, कम्मवज्ज ज गर–हिय् ति कोहाइणो व चत्तारि–यत गर्हित निन्द्य कर्मानुष्ठानं अथवा क्रोधादयश्चत्वारो अवद्यं, तेषां सर्वावद्य हेतुतया कारणे कार्योपचारात्।

अभि.रा.कोष

(ख) अवज्ज–अवद्य, पाप, निन्दनीय।

–पाइय सद्द० मह०

सावज्ज (सावद्य)

(क) अवद्य पाप सहावद्येन वर्तत इति सावद्य.,
सहावद्येन गर्हितकर्मणा हिसादिना वर्तत इति,
हिसादिदोषयुक्ते;
गरहियमवज्जमुत्त, पाव सहतेण सावज्ज।।३४९६।।
अहवेहज्जणिज्ज, वज्ज पाव ति सहसकारस्स।
दिग्घता देशाओ सहवज्जेण ति सावज्ज।।३४९७।।

–हिसाचौर्यादिगर्हितकमलिम्बने, गर्हितकर्मयुक्ते, मिथ्यात्व लक्षण कषायलक्षण सह सावद्यो नाम कर्म बन्धो अवज्ज सह जो सो सावज्जो। जौगोत्ति वा वावारोत्ति वा एगट्ठा, सावज्जयणुचिट्ठ ति वा पावकम्म–मासेवित ति वा वितहमाइन्न ति वा एगट्ठा सावज्जमणाययण असोहिट्ठाण कुसीलससग्गा एगट्ठा। –अभि०रा०को०

(ख) सावजन–सावद्य, पापयुक्त, पापवाला। –पाइअसद्दमहण्णव।

ऐसे ही जहाँ कही प्रमाद को हिंसा के नाम से संबोधित किया गया है वहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि वहाॅ 'अन्न वै प्राण' की भाँति कारण में कार्य का उपचार मात्र है। अन्यथा यदि प्रमाद स्वय सर्वात्मना हिंसा होता तो आचार्य इस ममत्व–रूप प्रमाद को 'मूर्छा परिग्रह' से इगित न कर 'मूर्छा हिंसा' इस रूप मे सूत्र कहते। यदि और गहरी दृष्टि से देखा

जाय तो यह फलितार्थ भी निकाला जा सकता है कि जब प्रमाद (पन्द्रह या अनेक भेद) सर्वात्मना हिंसा मे गर्भित हो जाते है तब परिग्रह के लिए तो (अध्यात्म मे) कुछ शेष रह ही नहीं जाता, पाप चार ही रह जाते है। फर्क मात्र इतना रह जाता है कि कभी पार्श्व के—चार पापों के परिहार रूप माने गए चार यामो मे (जो वस्तुत. न्याय सगत नहीं ठहरते) ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह मे गर्भित किया गया था और यहाँ प्रमाद (मूर्छा) रूप परिग्रह को हिंसा मे गर्भित कर भ० महावीर और चौबीसो तीर्थंकरों के पच महाव्रतो की मर्यादा को भगकर चार पाप मानने का प्रच्छन्न प्रयत्न बन रहा है। इस प्रकार सभी तीर्थंकरो की अवहेलना हो रही है। अस्तु·

अपने विषय मे हम यह भी जानते हैं कि परिग्रह पहले ही हमसे बहुत कुछ रुष्ट हैं—हम अकिंचन जैसे हैं, अब हमारी परिग्रहकृषता—त्याग जैसी बात से कतिपय परिग्रही दीर्घ संसारी बहु परिग्रही भी कुछ रुष्ट हो सकते हो—(जिसकी हमे आशा नहीं) फिर भी हमे इसकी चिन्ता से कही अधिक चिन्ता आगम मार्ग रक्षा और समाज मे 'मूल—जैन सस्कृति अपरिग्रह' को अक्षुण्ण रखने की है, जिसकी उपेक्षा कर आज कुछ लोग अधिकाधिक सग्रही बनने की होड़ मे अहिंसा के नाम पर मौज उड़ाने के अभ्यासी हो रहे है—भोगोपभोग मे मग्न रहकर भी धर्मध्यानी बनना चाहते है। मोक्ष चाहते है। ऐसी सभी क्रियाए उन्हे पर—भव मे महगी पड़ सकती हैं, इस भव में तो धर्म का ह्रास देखा ही जा रहा है।

काश, हमने अपरिग्रह को अपनी मूल—सस्कृति मानते रहने का अभ्यास किया होता और परिग्रह (तृष्णा) के क्षीण करने को प्राथमिकता दी होती तो परिग्रह संचय करने से हमारे मन और दोनो हाथो को ब्रेक भी लगा होता और अहिंसादि (त्याग रूप) व्रतो का निर्वाह भी हुआ होता, हम जैनी पहले की भाँति लोक—प्रतिष्ठित भी रहते और हमारा कल्याण भी निकट होता—व्यवहार मे शायद हम निकट—भव्यो की श्रेणी मे भी होते जरा सोचिए। तथ्य क्या है? ·

क्या हम श्रावक निर्दोष हैं?

मुनि–पद की अपनी विशेष गरिमा के कारण इस पद को पच परमेष्ठियों मे स्थान मिल सका है–'णमो लोए सव्वसाहूण।'–जब कोई व्यक्ति किसी मुनिराज की ओर अंगुली उठाता है तो हमें आश्चर्य और दुख दोनों होते है। हम सोचते हैं कि यदि हमें अधिकार मिला होता तो हम ऐसे निन्दक व्यक्ति को अवश्य ही 'तनखैया' घोषित कर देते जो हमारे पूज्य और इष्ट की निन्दा करता हो। आखिर, हमे सिखाया भी तो गया है कि–"मुनिराज का पद ही गरिमापूर्ण है।" क्या हम यह भी भूल जायँ कि–"भुक्तिमात्र प्रदानेन का परीक्षा तपस्विनां" वाक्य हमारे लिए ही है और सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा उपगूहन अग का पालन करते हैं, आदि।

उस दिन हमने एक हितचितक की बाते सुनी, जो बड़े दुखी और चिन्तित हृदय की पुकार जैसी लगी। इनमे मुनि–संस्था के निर्मल और अक्षुण्ण रखने जैसी भावना स्पष्ट थी।

बाते समय–सगत थी और विचार कर सुधार करने मे सभी की भलाई है। हमारी दृष्टि मे तो पहिले हम श्रावक ही अपने मे सुधार करे। संभवत हम श्रावक ही मुनिमार्ग को दूषित कराने मे प्रधान सहयोगी है। हम श्रावक जहाँ इक्के–दुक्के मुनिराज को अपनी दृष्टि से–कही किन्ही अशो मे कुछ प्रभावक पाते है, उनकी अन्य शिथिलताओ को नजरन्दाज कर जाते है और साधु को इतना बढ़ावा देने लग जाते है कि साधु को स्वय मे एक सस्था बनने को मजबूर हो जाना पड़ता है। साधु के यश के अम्बार लगे रहें और वह भीड़ से घिरा चारो ओर अपने जय–घोष सुनता रहे, तो उसको इस युग मे तो यश–लिप्सा से बचे रहना बड़ा दुष्कर कार्य है। फलत. साधु स्वयं सस्था और आचार्य बन जाता है और भक्तगण उसके आज्ञाकारी शिष्य। नतीजा यह होता है कि साधु की अपनी दृष्टि वैराग्य से हटकर प्रतिष्ठा और यश पर केन्द्रित होने लगती है। उसकी दृष्टि मे परम्परागत आचार्य भी फीके पड़ने लगते हैं। बस, साधु की यही प्रवृत्ति उच्छृंखल और उद्दण्ड होने की शुरुआत होती है।

जनता दूसरो का माप अपने से करती है। हमें बोलने की कला नही और अमुक साधु बहुत बढ़िया–जन–मन–मोहक प्रवचन करते हैं या हम अपना भ्रमण–प्रोग्राम घोषित कर चलते है तो अमुक साधु बिना कुछ कहे ही एकाकी, मौन विहार कर देते है तो हम आकर्षित होकर उन्हे हर समय घेरने लगते है–उनकी जय–जयकार के अम्बार लगा देते हैं। पत्रकार प्रकाशन–सामग्री मिलने से उस प्रसग को विशेष रूपो मे छपाने लगते हैं। बस, कदाचित् साधु को लगने लगता है कि मुझसे उत्तम और कौन? उसका मोह (चाहे वह प्रभावना के प्रति ही क्यो न हो) बढ़ने लगता है और वह भी ऐसे कार्यों को प्राथमिकता देने लग जाता है जिसे जनता चाहती हो, उसके भक्त चाहते हो और जिससे उसका विशेष गुणगान होता हो। वह देखता है–लोगो की रुचि मन्दिरो के निर्माण मे है तो वह उसी मे सक्रिय हो जाता है, साहित्य मे जन–रुचि है तो वह साहित्य लिख–लिखाकर उसके प्रकाशन मे लग जाता है या बाहरी शोध–खोज की बाते करने लगता है अपनी खोज और कर्तव्य को भूल जाता है। आज अविचल रहने वाले साधु भी है और वे धन्य है।

मुनियो की जयन्तियॉ मनाने उन्हे अभिनन्दन ग्रथ या अभिनन्दन पत्रादि भेट करने कराने जैसे सभी कार्य भी श्रावको से ही सम्पन्न किये जाते है। कैसी विडम्बना है कि–'मारे और रोने न दे'? हम ही बढ़ावा दे और हम ही उन्हे उस मार्ग मे जाने से रोकने को कहे? ये तो ऐसा ही हुआ जैसे साधु कमरे मे बैठ जाय और गृहस्थ आपस मे ऊपर एक पखा फिट कराने की बाते करे? साधु मना करे तो कहे–महाराज यह तो हम श्रावको के लिए ही लगवा रहे है, आदि। जब पखा लग जाय तब वे ही श्रावक बाहर आकर कहे कि ये कैसे महाराज है–'पखे का उपयोग करते है?'

हमने देखा पू०आ० श्री धर्मसागर जी का 'अभिनन्दन–ग्रन्थ।' लोगो का कहना है आचार्यश्री इसमे सहमत न थे और अन्त तक (और आज भी) इससे दूर रहे उन्होने नही स्वीकारा जब कि कई मुनि श्रावको की भक्ति के वशीभूत हो अपने स्वय के पद को भुला बैठते है। किसी मुनि

के जन्म की रजत, स्वर्ण या हीरक–जयन्ती मनाई जाती है तो काल गणना माता के गर्भ नि सरण काल से की जाती है–जैसे कि आम ससारी जनों मे होता है। जबकि मुनि का वास्तविक जन्म दीक्षा काल से होता है– वीतराग अवस्था के धारण से होता है और आगम में भी मुनि अवस्था को ही पूज्य बताया गया है। क्या मुनि कोई तीर्थंकर हैं, जो उनको कल्याणको से तौला जाय? पर, क्या कहे श्रावक तौलते हैं और मुनि तुलते है। आखिर जरूरत क्या है–घिसे–पिटे दिनों को गिनने की? क्या इससे मुनि–पद ज्यादा चमक जाता है? धन्य है वे परम वीतरागी मुनि, जो इस सबसे दूर रहते हैं।–"हम उनके हैं दास, जिन्होंने मन मार लिया।"

हमे यह सब सोचना होगा और मुनियो के प्रति चिन्ता व्यक्त न कर, पहिले अपने को सुधारना होगा। काश, हम श्रावक उन्हें चन्दा न दें तो मुनि रसीद पर हस्ताक्षर न करे, आदि। यदि हम ठीक रहे और श्रावक सघ को कर्तव्य के प्रति सजग रखने का प्रयत्न करे तो सब स्वय ही सही हो–पदेन सभी मुनि उत्तम है।

कैसी विडम्बना है कि हम अपने नेताओ को और अपने श्रावक–पद को तो सही न करे और पूज्य मुनियो की तथा परायो की चिन्ता मे दुबले होते रहे। जरा सोचिए।

प्रामाणिकता कहाँ है?

वे बोले–मुझे वे दिन याद आते है जब मै एक बड़े दफ्तर मे कार्यरत था। अच्छा पैसा मिलता था। रहने को बगला, कार, नौकर–चाकर सम्बन्धी सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। सैकड़ो लोग सुबह से शाम और रात तक भी मेरे मुख की ओर देखते थे कि कब मेरे मुंह से क्या निकले और वे तदनुरूप कार्य करे। कोई ऐसा पल न जाता था जब कोई न कोई मेरी ताबेदारी मे खड़ा न रहता हो। पर, क्या कहू? आज स्थिति ऐसी है कि बेकार बैठा हू। रहने का ठिकाना नही। नौकर–चाकर की क्या कहू? मै खुद ही मेरा नौकर हू। मै कही नौकरी करना चाहता हू–कोई नौकरी नहीं देता।

कई टाइम तो भूखों रह केवल पानी के दो घूट पीकर खाली पेट ही सोता हू।

मैंने पूछा—यह सब कैसे हो गया? दफ्तर के कार्य का क्या हुआ?

बोले—क्या कहू? बचपन से मेरा खेल—कूद मे मन रहा। घर वालों के बारम्बार कहने पर भी मै पढ़ने से जी चुराता रहा और जब बड़ा हुआ तब देखा कि मेरे साथी यूनिवर्सिटियो की डिग्री लेकर अच्छे—अच्छे पदों पर लगे चैन की बन्सी बजा रहे है। मुझे अपने पर बड़ा तरस आया। मैने सोचा, यदि मेरे पास डिग्री होती तो मैं भी कही न कहीं कोई आफीसर बन गया होता। बस, इसी सोच मे काफी दिनो रहा कि एक दिन मेरे किसी जानकार ने मुझे कहा कि तू डिग्री ले ले। मैने कहा—कहाँ से कैसे ले लू? अब तो उम्र बड़ी हो गई है। उसने मुझे बताया कि पड़ोस के मुहल्ले मे एक सस्था गुप्त रूप में डिग्रिया देती है। तेरे कुछ पैसे जरूर लगेगे, पर तेरा काम हो जायगा। बस, क्या था? मरता क्या न करता—मै उस सस्था मे पहुँचा और जैसे—तैसे दो हजार रुपयो मे सौदा बन गया। मैने सोचा इतने रुपये तो दो मास की तनख्वाह है, सब वसूल हो जाएगे। मैंने रुपयों का जुगाड़ करके एम०ए० की डिग्री ले ली और मुझे आफिस मे काम मिल गया।

होनहार की बात है कि एक दिन मेरा आफिस के एक साथी से झगड़ा हो गया और उसने किसी तरह मेरी जाली डिग्री की बात कहीं न कही से जान ली और मेरी शिकायत कर दी। मैं जाँच के लिए निलंबित कर दिया गया। मुकद्दमा चला और आठ वर्ष के कार्यकाल मे जो कुछ जोड़ा था वह सब खर्च हो गया। पर, मै निर्दोष न छूट सका। नौकरी भी गई और जुर्माना भी भरना पड़ा।

मैंने कहा—आपने जाली सार्टीफिकेट क्यों बनवाया? क्या आप नहीं जानते कि वही सार्टीफिकेट काम देता है, जो किसी स्वीकृत और प्रामाणिक बोर्ड या विश्वविद्यालय से मिला हो—किसी ऐसे व्यक्ति, सस्था या समाज

से मिला प्रमाण–पत्र जाली होता है जिसे उतनी योग्यता न हो और जो प्रमाण–पत्र देने के लिए अधिकृत न हो। उसका दिया सार्टीफिकेट तो बोगस और झूठा ही होगा।

वे बोले–वक्त की बात है, होनी ही ऐसी थी। वरना कई लोग तो आज भी अयोग्य और अनधिकृत लोगो से उपाधियाँ, अभिनन्दनादि ले रहे हैं–वे सम्मानित भी हो रहे हैं और उनकी तूती भी बोल रही है।

मैंने कहा–आपकी दृष्टि से आपका कहना तो ठीक है पर, इसकी क्या गारण्टी है कि उनकी प्रामाणिकता भी आपकी तरह किसी न किसी दिन समाप्त न होगी? फिर, ऐसे उपक्रमो की प्रामाणिकता है ही कहाँ? सभी लोग तो ऐसे उपक्रमो के वैसे समर्थक नहीं होते जैसे वे विश्वविद्यालयो द्वारा प्रदत्त उपाधियो के पोषक होते है। आप निश्चय समझिए कि प्रामाणिक उपाधि सभी स्थानो पर, सभी की दृष्टि मे प्रामाणिक ही रहेगी–एक भी व्यक्ति ऐसा नही होगा जो किसी विश्वविद्यालय द्वारा दी गई उपाधि को जाली बताने की हिम्मत कर सके। जबकि भीड़ के द्वारा दी गई उपाधियो के विषय मे सभी एकमत नहीं होते–कुछ न कुछ लोग उसे नकारने वाले अवश्य ही होते है।

उक्त कथन से हमारा तात्पर्य ऐसा नही कि हम अभिनन्दनो या उपाधियो का जनाजा निकाल रहे हो। अपितु ऐसा मानना चाहिए कि हम गुण–दोषो के आधार पर सही रूप मे किसी सम्मान के पक्षपाती हैं–सम्मान होना ही चाहिए। पर, हम ऐसे सम्मान के पक्षपाती हैं जो किसी ऐसे अधिकृत, तद्‌गुणधारक, पारखी और अभिनन्दित के द्वारा किया गया हो–जिनकी कोई अवहेलना न कर सके। उदाहरण के लिए जैसे मैं 'विद्यावाचस्पति' नही–शास्त्रों मे मूढ़ हूँ और किसी को 'सकल शास्त्र पारगत' जैसी उपाधि से विभूषित करने का दु.साहस करूँ (यद्यपि ऐसा करूँगा नही) तो आप जैसे समझदार लोग मुझे मूर्ख न कह 'महामूर्ख' ही कहेगे और उस उपाधि को भी बोगस, जाली, झूठी और न जाने किन–किन सम्बोधनो से सम्बोधित

करेगे? और यह सब इसलिए कि मै उस विषय मे अकिंचन हू, मुझमे तदर्थ योग्यता, परख नहीं है। फलत –

हमारी दृष्टि में वे ही उपाधियाँ और अभिनन्दन युक्ति–युक्त और प्रामाणिक हैं जो तद्गुण धारक किसी अधिकृत, अभिनन्दित और पारखी व्यक्ति या समुदाय की ओर से दिए गए हो और जिसका दाता (व्यक्ति या समाज) किसी पूर्वाभिनन्दित व्यक्ति या समाज द्वारा कभी अभिनदित हो चुका हो। उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान मे बटने वाली उपाधियो या अभिनन्दनो का स्थान या महत्त्व कब, कैसा और कितना? है भी या नही? जरा सोचिए! कही वर्तमान के पदवी आदान–प्रदान जैसे कोई उपक्रम, गुटबाजी, अहं–वासना या पैसे से प्रेरित तो नही है? यदि हाँ, तो 'अह' के पोषक ऐसे उपक्रमों पर ब्रेक लगाना चाहिए। फिर, आप जैसे सोचे सोचिए। हाँ, यह भी सोचिए कि पूर्वाचार्यों की उपाधियो और अभिनन्दनो की प्राप्ति मे भी क्या हम चालू जैसी 'तुच्छ' परम्परा की कल्पना कर उनके स्तर की अवहेलना के पाप का बोझ अपने सिर ले?

प्रमाद : परिग्रह

'मूल जैन–सस्कृति अपरिग्रह है और हिसादि सभी पाप परिग्रह–फलित है' यह एक ऐसा तथ्य है जिसे किसी प्रमाण या तर्क से झुठलाया नही जा सकता। हमे आश्चर्य है कि जब जैनाचार्य पापो की जड़ मे प्रमत्त भाव (परिग्रह) की अनिवार्यता स्वीकार कर रहे है, तब कुछ लोग शास्त्र–सम्मत हमारी इस बात को आक्षेप की सज्ञा दे रहे है। ऐसे लोगो से हमारी प्रार्थना है कि वे जिनधर्म के तथ्य को हृदयगम करे–जिनवाणी का आदर करे। हमें कोई विरोध नही, हम धर्म सम्बन्धी 'अहिसा परमोधर्म' जैसे सभी नारो को सम्मान देते है। पर, हम देखते है कि इन नारो का वर्तमान मे दुरुपयोग और दिखावा किया जाने लगा है, तब क्यो न इन नारो के मूल को खोजा जाय? जिससे दुरुपयोग की बढ़वारी रुके। हमारी समझ से यदि हमने उक्त नारो के मूल 'अपरिग्रह परमोधर्म' को लक्ष्य में रखा होता तो छलावे का प्रसग उपस्थित न हुआ होता। अस्तु

वास्तव मे अपरिग्रह ही 'जिन' बनने का उपाय है और 'जिन' का धर्म भी अपरिग्रह है तथा अहिंसादि सभी धर्मों के मूल मे अपरिग्रह की ही प्रधानता है। जहाँ परिग्रह है वहाँ पाप है और पापो को छोड़ने के लिए परिग्रह का छोड़ना अनिवार्य है। फिर चाहे वह परिग्रह अतरग–परिग्रह हो या बहिरंग परिग्रह हो।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि आचार्यों ने पापों को पाप तभी माना है जब उनमे प्रमत्त (परिग्रह) भाव हो। जब वे कहते है–'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपण हिसा' तब वे 'असद्भिधानमनृत', 'अदत्तादानमस्तेय' आदि सभी पापों मे भी 'प्रमत्तयोगात्' लगा लेने का आदेश देते हैं। उनके मत मे कोई भी प्रवृत्ति तब तक पाप नही है जब तक उसमे प्रमत्त भाव न हो।–मरदु व जियदु व जीवो' आदि। यदि हम प्रमत्त की परिभाषा हृदयगम करे तो हमे स्पष्ट हो जायगा कि सभी पापो की जड मे परिग्रह बैठा है। तथाहि–

"जो प्रमादयुक्त है, कषायसयुक्त परिणाम वाला है उसे प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों की क्रियाओ मे सावधानता न रखता हुआ स्वछंदता से प्रवृत्ति करने वाला जो मनुष्य है उसे प्रमत्त कहते है। अथवा जिसके मन मे कषाय बढ़ गए है। जो प्राणघात आदि के कारणो मे तत्पर हुआ है, परन्तु अहिंसा आदि मे शठता प्रवृत्ति दिखाता है, कपट से अहिंसादि मे यत्न करता है, परमार्थ रूप से अहिंसादि मे प्रयत्न जिसका नहीं है उसे प्रमत्त कहते है। अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पॉच स्पर्शनादि इन्द्रिये और निद्रा तथा स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद है। इनसे जो युक्त है उसे प्रमत्त कहते है। ऐसे प्रमत्त पुरुष की जो मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति है उसे प्रमत्तयोग कहते है। इस प्रकार के प्रमत्त योग से जो प्राणियो के इन्द्रियादि दश प्राणो का घात करना–वियोग करना उसे हिसा कहते है। (इसी प्रकार असत्य आदि पापो मे समझना चाहिए।"

"(हिंसादि के एक सौ आठ)–सरभ, समारभ और आरम्भ इनसे मन, वचन, काय को गुणा करने पर नौ भेद होते हैं। फिर इन नौ भेदों से कृत–कारित और अनुमोदन को गुणा करने से सत्ताईस भेद होते है। तथा

इन सत्ताईस भेदों से चार कषायो को गुणा करने से एक सौ आठ भेद (एक के) होते हैं।"

"स्पष्टीकरण—प्रमादयुक्त पुरुष का प्राणि हिंसा आदि में जो प्रयत्न करना उसे संरभ कहते हैं। हिंसादि के साधनों को प्राप्त करने को समारम्भ कहते हैं और हिंसादि कार्य करने मे प्रवृत्त होने को आरम्भ कहते हैं। कृत—स्वय हिंसादि करना, कारित—दूसरों से हिंसादि कराना, अनुमत—हिंसादि करने वालो को अनुमोदन देना। क्रोध, मान, माया, लोभो को कषाय कहते हैं। क्रोधकृतकाय हिंसादि—सरभ, मानकृतकायहिंसादि सरभ, मायाकृतकाय हिंसादि सरभ, लोभकृतकायहिंसादि सरभ। क्रोधकारितकायहिंसादि समरम्भ, मानकारितकाहिंसादि सरभ। मायाकारितकायहिंसादि संरभ, लोभकारित हिंसादि सरभ। क्रोधानुमोदितकायहिसादि संरंभ, मानानुमोदितकायहिंसादि सरंभ, मायानुमोदितकायहिंसादि सरभ, लोभानुमोदितकायहिंसादि सरभ। ऐसे कायहिसादि सरभ के बारह—बारह भेद। ऐसे ही वचन द्वारा हिंसादिसरभ के बारह—बारह भेद। तथा मनो हिसादि सरभ के बारह—बारह भेद होने से एक—एक के छत्तीस—छत्तीस भेद सरभ के भेद हुए। इसी प्रकार एक—एक के छत्तीस—छत्तीस भेद समारम्भ के हुए और एक—एक के ३६—३६ भेद आरम्भ के हुए। इस प्रकार सब मिलाकर १०८ भेद हिंसा के, १०८ भेद झूठ के, १०८ भेद चोरी के, १०८ भेद कुशील के और १०८ भेद परिग्रह के होते है।"—(उधृत)

उक्त सभी भेद प्रमाद की मुख्यता मे बनते हैं और सभी पाप भी प्रमाद (परिग्रह) के अस्तित्व में ही बनते है, यह वस्तुस्थिति है। आचार्य तो यहाँ तक कहते है कि—

'साधौ व्रतानि तिष्ठन्ति राग—द्वेष विवर्जनात्।'—अब पाठक विचारे कि पापों के जनक राग—द्वेषादि भाव परिग्रह में परिगणित हैं या अन्य किसी में? जरा अतरग चौदह परिग्रहो की गणना कीजिए और देखिए—'तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद, हास्य, रति (राग) अरति (द्वेष) शोक, भय और जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय तथा

मिथ्यात्व। क्या उक्त परिग्रहो के बिना कोई पाप संभव है या सभी पापों के मूल मे उक्त परिग्रहों मे से किसी की कारणता विद्यमान है? जरा सोचिए!

और एक यह भी–

चर्चा है श्रावकाचार वर्ष मनाने की। हम तो इसे काल लब्धि ही कहेंगे कि जो पुण्य कार्य सर्वथा विस्मृत हो चुका था वह सहसा स्मृति मे आया। इसके माध्यम से जैनत्व को बल मिलेगा और भव्य जीवों का कल्याण भी होगा। धन्य है उन विचारको, सचालको और प्रचारको को जिन्होने इस उपयोगी कार्य का बीड़ा उठाया। सफलता मिले इसी मे सबका गौरव है। हमारी प्रार्थना है कि सभी जन इस धर्म–यज्ञ मे प्राण–पण से लग जाये। हम से जो हो सकेगा, बिना शक्ति छुपाए भरसक करेंगे।

हमे यह सोच लेना चाहिए कि यह एक ऐसा कठिन कार्य है जिसे पूरा करना लोहे के चने चबाने जैसा है। आज जब आचार–विचार का सर्वथा ही लोप है, तब हमे उसकी बुनियाद शुरू से ही रखनी होगी। और उसके लिए हमे आचारवान त्यागियो से मार्ग दर्शन लेना होगा–उसकी सेवा करनी होगी। हमारे देखते–देखते हमे याद है कि किन्ही दिनो सप्तम प्रतिमाधारी का जो सन्मान था, वह कदाचित् आज साधारणत मुनि को भी दुर्लभता से प्राप्त है। पहिले लोग जहाँ किसी ब्रह्मचारी त्यागी के आगमन की खबर सुनते थे वे बासो उछल पड़ते थे, भक्तिभाव से उनकी अगवानी करते थे, श्रद्धावनत हो भक्तिभाव से उनके प्रवचन सुनते थे और उनकी वैयावृत्त करते थे और इसमे उनकी पूरी दृष्टि स्व–सुधार मे केन्द्रित रहती थी। अब आज सारा का सारा वातावरण बदला हुआ है। लोग जो कुछ भी करते है उसमे पर–सुधार का लक्ष्य और प्रचार का दिखावा ही मुख्य होता है। गोया, धर्म आज केवल प्रचार और पर–सुधार का माध्यम बन गया। उसमे विचार और स्व–आचार नाम की कोई चीज ही नही रही। जबकि वास्तव मे धर्म, प्रचार की चीज न हो, आचार की ही चीज है।

आज लोगो के लिए **'लोग क्या कहेंगे'** यह प्रश्न भी मुख्य आड़े आ गया है। वे सोचते है–यदि हम ऐसा करेगे या न करेगे तो लोग क्या कहेगे? बस, वे लोगो को तुष्ट करने के ख्याल से, प्रचार को माध्यम बना मैदान मे कूद पड़ते हैं और लोग समझ लेते है कि अमुक बहुत अच्छा काम कर रहा है। आखिर क्यो न समझे? आज तो प्रचार का जमाना है, सो हो ही रहा है। पर याद रहे–**'लोग क्या कहेंगे?'** यह प्रश्न लोगो के सामने पहिले भी था और वे इसे हल भी करते थे। अन्तर मात्र इतना है कि तब वे इसे हल करने मे प्रचार को माध्यम न बना, स्व–आचार–विचार को माध्यम बनाते थे–अपने मे सुधार लाते थे। जबकि आज प्रचार को माध्यम बनाया जा रहा है। स्मरण रहे कि प्रचार और आचार मे बड़ा भेद है। प्रचार तो आज सरकार भी करती है–**'शराब जहर है मत पियो?'** पर, सरकार का वैसा आचार न होने से इस प्रचार का लोगो पर कुछ असर नही होता। सभी को मालूम है कि शराब की बिक्री सरकार के दिये हुए ठेको की मार्फत सरकार द्वारा ही होती है और शराब बन्दी का प्रचार भी सरकार ही करती है। इससे मिलती–जुलती बात ही बीड़ी–सिगरेट आदि के निर्माता भी करते है। आदि।

यदि हमे श्रावकाचार वर्ष मनाने की वास्तविक ललक है तो हमें स्वय को श्रावकाचार रूप में ढालना होगा। हमे अपने अपने परिवार के, गली–मुहल्ले और नगर के बन्धुओ को पहले श्रावक बनाना होगा–उन्हें धर्म के आचार पालन के लिए तैयार करना होगा। हम बात करते हैं सम्प्रदाय, सारे देश और विश्व को सुधारने की, जबकि अपने सुधार की हमे सुध ही नही। हमने उन बहुत सी भीड़ो को भी कई बार देखा है जिनमे भाषणो से प्रभावित होकर समुदाय के समुदाय हाथ ऊँचे उठाकर शराब और मॉस जैसे अन्य बहुत से हेय पदार्थो के सेवन न करने का दृढ़ सकेत देते रहे हैं और बाद मे ललक उठने पर नियम–च्युत हो गए हैं। हमने ऐसे जैनो को भी देखा है जो किन्ही महाराज को आहार देने के लिए आजन्म शूद्र जल त्याग का नियम लेकर बाजार मे हलवाई की दुकान पर कचौड़ी आदि

खाकर कहते रहे है कि—हमने तो शूद्र जल मात्र का त्याग किया है—अन्य चीजो का नहीं, आदि। गरज मतलब यह कि कुछ लोग दीर्घकालीन व्यसनी होने से और कुछ कानूनी दाव—पेचो का सहारा लेकर भ्रष्ट होते रहे है। अत नियम देने—लेने और उस पर दृढ़ रहने व रखने के लिए पहिले उनकी चित्तभूमि को बारम्बार उसी भाँति तैयार करते रहना पड़ेगा जैसे चतुर किसान बीज बोने से पहिले खेत को भलीभाँति तैयार करता है। बाद मे फसल की देखभाल की भाँति लोगों को पुन पुन सम्बोधन भी देना होगा। उनकी देखभाल भी करनी होगी। अब जरा सोचिए! हममे वैसे चतुर किसान कितने हैं और वैसी भूमि कब, किसने तैयार कर रखी है। कही ऐसा तो नहीं हो कि मेघ ऊसर जमीन मे बरस रहा हो और हम किसान भी अनाड़ी हो—मात्र लोगो मे 'कृषक' नाम कायम रखने के लिए ही हल चला रहे हो यानी—**'खुद मियां फजीहत दीगरा नसीहत।'**

'सव्वसाहूणं' में साधु कौन!

'णमो लोए सव्व साहूण'—लोक अर्थात् ढाई द्वीप मे विद्यमान सर्व साधुओ को नमस्कार हो।

उक्त पद से क्या लोक के सभी—सच्चे और वेश या नामधारी दिखावटी साधुओ को नमस्कार करने का भाव प्रकट नही होता? यह प्रश्न कई लोगो द्वारा पूछा जाता रहा है। इस विषय मे आगम का अभिमत क्या है, इस परिप्रेक्ष्य मे विचारना चाहिए। आगम मे 'साधु' की व्याख्या इस प्रकार दी है—

"जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते है। उन्हे साधु कहते है। जो पाच महाव्रतो को धारण करते है, तीन गुप्तियो से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदो को धारण करते है और चौरासी लाख उत्तर गुणो का पालन करते है, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।"

"सिह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी

वृत्ति करने वाले, पवन के समान नि:संग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वो के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गभीर, मंदराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान अकम्प रहने वाले, चन्द्र के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, पृथ्वी के समान बाधाओ को सहने वाले, सर्प के समान अनियत आश्रय–वसतिका मे निवास करने वाले, आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप, सदाकाल मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं।"

(षटख० १–१–१)

"मूलमत्र मे सर्वगुण सम्पन्न सभी साधुओ के ग्रहण के भाव मे 'सव्व" पद है। सर्व शब्द से अर्हत्–मत मान्य साधुओ मात्र का ग्रहण है, बुद्धमत आदि के साधुओ का ग्रहण नही है। जिनसे सब जीवो का हित हो, जो अरहत की आज्ञानुसार प्रबर्तै, दुर्नयो का निराकरण करे वे सर्व साधु है।" मत्र मे उन्ही को नमस्कार किया गया है और उन्हीं के विषय मे कहा गया है। (षट्० भाग १–१–१)

'उरग–गिरि–जलण–सागर–नहतल–तरुगणसमो अ जो होई।
भमर, मिय, धरणि जलरुह, रवि पवण समो अतो समणो।।'

उक्त परिप्रेक्ष्य मे विचारना है कि आज देखा–देखी, चाहे जो हो, जैसा हो, अपने से तनिक भी श्रेष्ठ हो–चाहे आडम्बर परिग्रह का पुज ही क्यो न हो? सभी को गुरु मानकर नमस्कार करने की जो परिपाटी चल रही है, वह कहाँ तक उचित और णमोकार मत्र सम्मत है। जरा सोचिए।

'मिथ्यादृष्टि' का अनादित्व!

वस्तुत्व का निरूपण जुदी प्रक्रिया है और प्रमाद कषायादि भावो वश वस्तु का कथन या विचार करना जुदी बात है। तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि के प्रमाण नयगर्भित और प्रमाद–कषायादि रहित होने से उसमे केवल वस्तु–तत्व का विवेचन है और उसमे पुण्यात्मा–पापी सम्यग्दृष्टि–मिथ्यादृष्टि आदि जैसी दृष्टियो के स्वरूप कथनो का समरूप मे समावेश है। वहाँ

प्रमादादि का अभाव होने से भाव या द्रव्य रूप जैसी हिंसा की सम्भावना नही। इसके विपरीत—जब किसी को कषाय या प्रमादवश होकर या तिरस्कार की भावना से पापी; हिंसक, झूठा, चोर, व्यभिचारी, मिथ्यादृष्टि आदि कहा जाय तब वहाँ हिंसा का दोष है और इस दोष में प्रवृत्ति करना जैन या जैन धर्म को अमान्य है।

यत –जैन आगम के अनुसार यह ससार अनादि है। मोक्ष भी अनादि है और इनके मार्ग और अनुगमनकर्त्ता भी अनादि है। आचार्यों ने सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि को मोक्ष का मार्ग और इन मार्गों के अनुसरणकर्त्ताओ को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्री कहा है। इससे विपरीत यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को ससार मार्ग और इन मार्गों के अनुसार कर्त्ताओ को मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री कहा है। इस प्रसग को यदि विशदरूप मे जानना चाहे तो कह सकते हैं कि उत्सर्ग–अपवाद, विधि–निषेध, अस्ति–नास्ति, सम्यक्–मिथ्या जैसी दो विरोधी विचार–धाराये अनादि–निधन है–जब एक का विकल्प है तब दूसरी का होना अनिवार्य है। बिना ऐसा माने, अनेकान्त की भी सिद्धि नही है। फलत चूकि सम्यग्दृष्टि आदि व्यवहार अनादि है। अत वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य मे उससे उल्टे मिथ्या दृष्टि आदि व्यवहार भी अनादि है।

आठो कर्मों मे मोहनीय कर्म को सबसे बलवान बतलाया है और उसका साक्षात् सम्बन्ध आत्मा के भावो से है। मूलत उसकी दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो प्रकृतियाँ है और कर्मों के अनादि होने से ये प्रकृतियाँ भी अनादि हैं। दर्शन मोहनीय प्रकृति के उदय का फल मिथ्यात्व भाव भी है और जिसे इस मिथ्यात्व का उदय होता है वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों भावों और शब्दो तथा व्यक्तित्वो का अस्तित्व भगवान ऋषभदेव के समय मे भी था। उस युग में जो ३६३ मिथ्या–मत कहे गए है–वे मिथ्यादृष्टियो के ही थे। तीर्थंकर महावीर के समय मे भी ऐसे जीव विद्यमान थे। बाद के प्राचीनतम आचार्यों ने भी मिथ्यादृष्टि शब्द को स्थान दिया है। तथाहि–

'मिच्छाइट्ठी णियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।'

—गुणधराचार्य कसायपाहुड।, १०८

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी'— —षट्खडागम १–१–९

इसी प्रकार गुणस्थानो मे प्रथम गुणस्थान का नाम 'मिथ्यात्व' है और वह अनादि से है और उस गुणस्थानवर्ती अनन्तजीव है, उन सभी को 'मिथ्यादृष्टि' नाम दिया गया है। उक्त वर्णन मे हिंसा–अहिसा का प्रश्न छुए बिना मात्र वस्तु–तत्त्व वर्णन को प्रमुखता दी गई है। एतावता ऐसा मानना कि 'मिथ्यादृष्टि' हिसक, झूठा, चोर आदि जैसे शब्दों मे 'वैचारिक हिसा' का दोष आता है–अत ये जैन आगमिक शब्द नहीं है या बाद के प्रचलन है आदि कहना सर्वथा निर्मूल है। पुण्यात्मा–पापात्मा, हिसक–अहिसक, सत्यवादी–झूठा आदि सभी विरोधी धर्मों के विकल्प और सभी विरोधी धर्म अनादि है। भावो की सभाल (उत्तमता) से इनके कथन मे अहिंसा है और भावो की कलुषता मे हिसा है। समताभाव से यथार्थ वस्तु–स्वरूप का वर्णन करना पाप नही। मिथ्या को मिथ्या और मिथ्या मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहना आगम सम्मत अनादि तथ्य है–नवीन नही। इसमें जैनी को कैसे बर्तना चाहिए? जरा सोचिए।

शोध–पत्रिकाएं कैसी हों!

भौतिक शोध (रिसर्च) का जोर है और लोगो का ध्यान पर्याप्त मात्रा मे उधर ही है। उस दिन एक सज्जन बोले–समाज मे शुद्ध मायने मे शोध–पत्रिकाए होनी चाहिएँ। हमने सोचा बात तो ठीक है। टीका–टिप्पणी और आलोचना–प्रत्यालोचना के प्रसगो से तो अनेको पत्र भरे रहते है। पर, प्रश्न यह उठता है कि शोध करने से तात्पर्य क्या है? मात्र जड़ की या चेतन की भी?

अनादि काल से यह जीव पर की खोज मे रहा, उसने सिद्धान्त को और अपने को नही खोजा। यदि अपने को खोजें और खोजकर अपना

निखार करे तो खोज सार्थक हो। आज जो लोग खोज की बाते या खोज के कार्य करते हैं उनमे कितने ऐसे हैं जिनका ध्यान सिद्धान्त और आचार-विचार के प्रसगो की ओर हो या जो जिनमार्ग में प्रवृत्ति करते-कराते हो। यत सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार के बिना इन भौतिक मिट्टी-पाषाणो, साहित्य, इतिहास एव पाण्डुलिपियो के सग्रह मात्र मे धर्म का उतना लाभ नहीं। ऐसी-ऐसी खोजे तो आज तक बहुत हो चुकीं और उनसे जैनधर्म का उतना ठोस प्रचार नही हो सका। ठोस सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार के बिना धर्म का आचरण मे ह्रास ही हुआ है।

इस प्रसग मे अनेकान्त के जन्म का इतिहास जब हमारी दृष्टि मे आया तब हमने पढ़ा-

"जैन समाज मे एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है, और **सिद्धान्तविषयक** पत्र की जरूरत तो उससे पहिले से चली आती है। इन दोनो जरूरतो को ध्यान मे रखते हुए, समतभद्राश्रम ने अपनी उद्देश्य सिद्धि और लोकहित की साधना के लिए सबसे पहिले 'अनेकान्त' नामक पत्र को निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ मे लिया है।' अनेकान्त वर्ष १, किरण एक, वी०नि० २४५६।

उक्त नीति के आधार पर 'वीर सेवा मन्दिर' की नियमावलि मे प्रकाशित निम्न पैरा भी मननीय है-

'अनेकान्त पत्रादि द्वारा जनता के **आचार-विचार को ऊचा** उठाने का सुदृढ़ प्रयत्न (करना)-नियम ३(घ)

उक्त सन्दर्भ मे 'अनेकान्त' आज तक खरा उतरता आया है इसमे प्रारम्भ से ही शोधपूर्ण, सैद्धान्तिक, आचार-विचार सम्बन्धी सभी प्रकार के लेखो, कविताओ, कथाओ आदि का समावेश होता रहा है।

आज स्थिति ऐसी है कि युग के अनुरूप धर्म को चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है और धर्म के अनुरूप युग को चलाने में उपेक्षा भाव दिखाया जा रहा है। फलत-युगानुरूप-सिद्धान्त ज्ञानहीन या भीरु कुछ लोग अण्डे

जैसे अभक्ष्य को निरामिष घोषित कर धर्म मे खीचना चाह रहे हैं, कुछ शुद्ध खान–पान को छोड़ होटलों मे जाने और उनमे विवाह शादी आदि रचाने मे लगे है और कुछ सामूहिक रात्रि भोजन आदि की परम्पराएँ बना रहे है तथा जिन्हे मन्दिर शास्त्र और गुरुओ से लगाव नही रह गया है उनमे कितने ही धर्म के प्रमुख बनने की दौड़ धूप में भी लग रहे है। यदि उन्हे सिद्धान्त का ज्ञान और आगम–विहित आचार–विचार का ज्ञान कराकर धर्म के अनुरूप युग को बदलने की प्रेरणा दी जाय तो धर्म के ह्रास का स्थान धर्म का उत्थान ले सकेगा। बिना आचार–विचार के सब सूना है। हमारे पाक्षिक–मासिक, द्वि या त्रैमासिक पत्र इस ओर प्रमुख ध्यान दे, तो कैसा रहेगा? जरा सोचिए।

व्यसन–मुक्ति आन्दोलन!

जैन देखे, जैन समाज देखा। इसके सदस्य, पच, पचायतें और नेता भी देखे। हमने महाव्रती मुनि और अणुव्रती तथा अव्रती श्रावको के समागम के अवसर भी पाए। कभी यह सब ऐसा ही रहा। पर, आज सब स्थिति बदली हुई है। अब न वैसे जैन है, न जैन समाज। सदस्य, पच, पचायत और नेता भी वैसे नही है। सब बदल गया है। जो कुछ दिख रहा है, अधिकाश बनावटी–अर्थ और यश अर्जन की दिशा मे मुड़ा हुआ है।

अब तो न जाने कितनेक व्यसनी अपने को जैन लिखते है, कितनेक जैन समाज है, कितने सदस्य और कितनी ही पचायतें है और नेताओ का तो कहना ही क्या? उनमे कितनेक राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक धरोहर का लाभ उठाने की धुन मे हैं और कितनेक कोरी प्रतिष्ठा और यश अर्जन के चक्कर मे है?

जैन सस्थाओ–मन्दिरो, विद्यालयो, महाविद्यालयो और सरस्वती भवनो के हाल भी प्राय डगमगाए हुए है। मन्दिरो में दर्शन–पूजा करने वालो को जबर्दस्ती हाँकना पड़ता है। कही–कही तो पूजा का कार्य वेतन देकर पुजारियो से कराया जाता है। विद्यालयो, महाविद्यालयो के विद्यार्थी धर्म–शिक्षा

का ग्रहण मजबूरी मे ही करते है–वे भी कालेजो की शिक्षा–सुविधा को ही प्रमुखता देते है। हमारे पूर्वजो ने सरस्वती भवनो की स्थापनाए की। खोज २ कर दुर्लभ–ग्रथो के सग्रह किए–उन्हे आज पढ़ने वाले नही। इन सब बातों मे, अनेक कारणो मे एक कारण लोगो का व्यसनों से लगाव भी है। अब व्यसनो से मुक्ति आवश्यक है।

जैन को सबसे पहले व्यसन–मुक्त होना चाहिए और आज की पीढ़ी मे इसका ह्रास है। जब तक एकजुट होकर इन व्यसनो से मुक्ति नही पाई जाती, तब तक सुधार असम्भव है।

हाल ही में कोल्हापुर मे घटित समाचारो को पढ़कर कुछ आशा की किरणे चमकती जैसी लगी है। वहाँ के वीरो ने मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद मे 'व्यसनमुक्ति आन्दोलन' पद्धति को अपनाया है। महात्मा गाँधी की भाँति इसमे भी डगर–डगर, नगर–नगर, ग्राम–ग्राम और गली–मुहल्लो में पैदल मार्च होता रहेगा और लोगो को व्यसन–मुक्त रहने का सदेश दिया जाता रहेगा।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि मुनि श्री पिछले दशको मे, व्यवहारत – धर्म प्रचार के विधि–विधान निर्मित एव उनको सफलतापूर्वक सचालित करने मे सफल हुए है। उन्होने आबाल–वृद्ध–विशेषकर नवयुवको को व्यवहार धर्म की दिशा मे जागृत किया है। धर्मचक्र, मगलकलश, धार्मिक रिकार्ड्स निर्माण, गोम्मटगिरि पर भ० बाहुबली महामस्तकाभिषेक का बड़े पैमाने पर आयोजन आदि सब मुनि श्री के आशीर्वाद–फल है।

इस प्रकार के व्यसन–मुक्ति आन्दोलन को अपनाना–सभी के हित मे है ऐसा हम सोचते है। जरा आप भी सोचिए।

ये विसंगतियां!

दूसरो को दोष देना लोगो का स्वभाव जैसा बन गया है। कहते है–आज ससार मे जो बदलाव आया है, छीना झपटी, आपा–धापी मची हुई है वह

सब समय के बदलाव का प्रभाव है, पर, यह कोई नहीं बतलाता कि यह सब घटित कैसे हुआ? जबकि समय, दिन–रात, घड़ी–घण्टा, मिनट–सैकिण्ड आदि में कोई बदलाव आया नहीं मालूम देता। समय तो तीर्थंकरों के काल में और उससे बहुत पहिले काल मे जैसा और जिस परिमाण में था आज और अब भी वैसा उसी परिमाण मे है। फिर काल–द्रव्य अन्य पदार्थों के लिए प्रेरक भी तो नही–हर द्रव्य का परिणमन उसका अपना और स्वाभाविक है–'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त सत्।'

सुना है, पहिले के लोग स्वार्थी उतने नही थे जितने परमार्थी। उनकी दृष्टि दूसरो के उपकार पर अधिक रहती थी जबकि आज बिरले ही मानवो की बिरली ही गतिविधिया परमार्थ के लिये समर्पित है। मनुष्य स्वय स्वार्थ की ओर दौड़ रहा है और बदनामी से बचने के लिये स्वय ही युग को 'अर्थयुग' या अर्थ के प्रभाव का नाम देकर बदनाम कर रहा है।

स्वार्थ के लिए मानव की दौड़ कहॉ–कहॅं है, यह जानने के लिये लम्बे लम्बे व्यायामो की आवश्यकता नही। आज तो मानव कहॉ नही दौड़ रहा? यह आसानी से जाना जा सकता है, क्योकि उसकी अ–दौड़ के क्षेत्र सीमित है और दौड़ के क्षेत्र विस्तृत। मानव ने सभी क्षेत्र तो स्वार्थपूर्ति से व्याप्त कर रखे है–**जो निःस्वार्थ हैं वे धन्य हैं।** बहुत से लोगो ने तो धर्म उपकरणो, स्थानो और धर्म के नाम पर होने वाले कार्यक्रमो तक को स्वार्थ–पूर्ति से अछूता नही छोड़ा है। बहुत से लोग दान देते है तो यश–कीर्ति–नाम के लिये, सम्मेलन, जयन्तियो आदि के आयोजन करते है तो यश व अर्थ के लिए, भाषण, कथा, प्रचार आदि करते हैं यश व अर्थ के लिये और धार्मिक–साहित्य प्रकाशन आदि करते है तो वह भी व्यवसाय के लिये। कोई दूसरो को नीचा दिखाने के लिये समन्वय के नाम पर विरोधी वाणी बोल रहे है तो कही–जहॉ पहिले वस्तुनिर्णय के लिये अपेक्षावाद को निर्णायक माना जाता था वहॉ अब निरपेक्षवाद का प्रभुत्व है, जहॅं अनेकान्त था वहा एकान्त है। इस प्रकार सभी तो विसगतियॉ इकट्ठी हो गई है, जबकि धर्म सभी विसगतियों से अछूता–वस्तु स्वभाव मे है।

यदि कहीं विसंगतियाँ नजर आती हों तो उन्हें दूर कीजिये। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि परिपक्व होने पर ये विसगतियाँ ही धर्म का रूप ले बैठें। क्योंकि बदलती परम्पराओं से यह स्पष्ट होने लगा है कि–धर्म में अधर्म तीव्रगति से घुसपैठ कर रहा है और हम एक–दूसरे का मुँह देख रहे है। हममे जो एक करता है दूसरे भी वही करने लगते है और करें भी क्यों नहीं? कुछ अपवादों को छोड़, प्राय. हम सभी तो एक थैली के चट्टे–बट्टे जैसे हैं। पर, आश्चर्य न करे–बलिदान निरोधक धर्म के मध्य भी बलिदान बैठा है। अधर्म निरोध के लिये सभी तीर्थंकरो को भी सर्वस्व तक बलिदान (त्याग करना पड़ा। अब धर्मरक्षा के लिये हमे क्या बलिदान (त्याग करना है? जरा सोचिये और करिये।

प्रचार किसका और कैसे?

जैनधर्म आचार–मूलक है तथा इसमे आभ्यन्तर और बाह्य दोनो आचारो के पालन का निर्देश है। जिसका अन्तरग राग–द्वेष, मिथ्यात्व, कषायादि से रहित हो, और बाह्य प्रवृत्ति पचेन्द्रिय तथा मन के वशीकरण क्रिया से ओत–प्रोत हो वही पूरा जैनी है, वही 'जिन' का सच्चा अनुयायी और वही जैन का समर्थक है। यहाँ तक कि पूर्वजन्म मे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले सभी जीवो को भी इसी मार्ग से होकर गुजरना पड़ा और वे इस जन्म मे भी निवृत्ति रूप इसी प्रवृत्ति से केवलज्ञानी व 'जिन' बन सके। अत लोगो को 'जिन' व वीतराग की श्रद्धा व रुचि हो, वे जिन–मार्ग पर चले, जिन और जैनी बनने का प्रयत्न करे यही उत्तम मार्ग है।

श्रद्धा करने और मार्ग पर चलने के लिये वह सब कुछ करना होता है जो महापुरुषो ने किया और जिसका मूल चारित्र है। यत–श्रद्धा और ज्ञान दोनो स्वय भी जानने व अनुभूति रूप क्रिया होने से स्वय चारित्र रूप ही हैं। फलत· चारित्र ही मुख्य है। जो जितना अन्तरग व बहिरग चारित्री होगा वह उतना ही 'जिन' और जैन के निकट होगा। हाँ, इस चारित्र में शक्ति की अल्प व महत् व्यक्तत की अपेक्षा अल्प बहुत्व अवश्य

है—अल्प अणुव्रत व महत् महाव्रत कहलाता है। श्रावक का चारित्र अणुव्रत और मुनि का महाव्रत रूप है—पर, है वह सभी चारित्र। उक्त चारित्र के परिप्रेक्ष्य मे आज की स्थिति क्या है? यह विचारणीय विषय बन रहा है।

आज लोगो में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने को दबाव डाला जाता है, आधुनिक के सन्दर्भ में ज्ञान के विस्तार का निर्देश दिया जाता है, आध्यात्मिक चर्चाएँ होती है। सम्मेलनों और सेमीनारो के आयोजन किये जाते है—आदि। यदि उक्त सभी आयोजन आचरण मे उतरने की ओर अग्रसर दिखाई देते हों तो सभी सकल्प और आरम्भ शुभ हैं। पर अधिकाशत ये आयोजन क्या है? चर्चाएँ क्या हैं? और सेमीनार क्या हैं? इनके वास्तविक रूपो पर लोगो की दृष्टि नही। अन्यथा—क्या कषायपोषण और आचार—विचार शून्यता मे की जाने वाली सम्यग्दर्शन की चर्चाएँ धर्म से दूर नही? क्या वर्तमान उत्सव व सेमीनारो के आयोजन प्राय प्रभूत सम्पत्ति व्यय करने वाले और साधारण ज्ञान—पिपासुओ को लाभ देने से दूर नहीं? क्या दोनो के ही मूल मे चारित्र का अभाव नहीं? बहुतों मे प्रकट कषाय—मान आदि दृष्टिगोचर है तो बहुतो मे लोभादि के सद्भाव रूप अन्तरग कलुषता और बाह्याचार शून्यता।

वर्तमान सेमीनार क्या कुछ दे जाते है, ये लेने वाले जाने। पर अनुभव तो ऐसा है कि एक ओर जहाँ उत्सवो व सेमीनारो मे पठित कतिपय निबन्ध बहुत घिसे—पिटे और कई २ जगह बाँचे होते है—उनमे पिष्ट—पेषण भी अधिक मात्रा मे लक्षित होते है, तो दूसरी ओर बहुत से नये प्रबन्ध कुछ बुद्ध—बोधितो तक ही सीमित रह जाते है और कई वाचको मे तो आचार—विचार सम्बन्धी मूर्तरूप भी परिलक्षित नही होता। ऐसे सेमीनारो से अधिकाश लोगो को खासकर स्थानीय युवापीढ़ी को धर्म के अनुकूल कुछ नहीं मिल पाता और कभी—कभी तो इन सेमीनारो से विपरीत प्रभाव होता भी देखा जाता है जैसे—युवक जान लेते है इन सेमीनारों के विकृत—रूप, सम्मिलित होने वाले अनेको महारथियो के आचार—विचार और धन के अप—व्यय के विविध आयाम। किसी का कहना था—कि उनके नगर मे पिछले वर्षो

मे घटित एक सेमीनार में कुछ वाचकाचार्य ऐसे भी थे जो नई पीढ़ी पर बिना छने पानी और कन्दमूल सेवन की छाप छोड़ गए और कुछ ने तो रात्रि–भोजन त्याग जैसे मोटे नियमों का भी उल्लंघन किया।

उक्त प्रसगों मे सोचना पड़ेगा कि इन सेमीनारो के आयोजन दुरुह तत्व–ज्ञान के आदान–प्रदान मात्र के लिए हों या आचार–विचार का मूर्त–रूप प्रस्तुत करने के लिये भी? आज जबकि शास्त्रों–सम्बन्धी खोजो के प्रसगो से भण्डार भर चुके है–लोग इतना लिख चुके हैं कि उन्हें पढ़ने और छपाने वाले भी दुर्लभ हो रहे है। इन प्रभूत लेखो और अनुवादो ने मूल भाषा और भावो को लोगो की ऑखों से दूर–सा जा पटका है–वे आचार्यो के मूलभावो से दूर जा पडे है और वाह्याचार–विचार (प्रगट मे जैनत्व दर्शाने वाली–प्रभावक क्रिया) से भी शून्य जैसे हो रहे है। तब क्यो न मूल ग्रन्थो के पठन–पाठन की परिपाटी का पुन प्रयत्न किया जाय और क्यो न मूर्त–आचार–विचार प्रसार के लिए चारित्र विषयक ग्रन्थो के शोध व मूर्त आचार प्रस्तुत करने के मार्ग खोजे जाएँ? द्रव्य उधर लगे या दिखावे मे? जरा सोचिये।

वे जैनी ही तो थे!

'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनविमोचनमाहु: सल्लेखनामार्या:।।'

निष्प्रतीकारयोग्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापे, बीमारी आदि के कारण धर्म के लिए–धर्मसाधन हेतु शरीर का त्यागना सल्लेखना या समाधिमरण है।

–बड़े शोक मे डूब गया देश और धार्मिक जगत्। जब बाबा बिनोवा भावेजी का वियोग सुना। वे देशहित के लिये राष्ट्र–पिता बापूजी के आदर्शों पर उनसे कन्धा भिड़ाकर चले और बापू के बाद मे भी जीवनपर्यन्त धर्म की आन को निभाते चले। भू–दान तो उनकी सेवा पद्धति का एकमात्र उजागर रूप था। वे अपने अन्तस्तल मे न जाने कितने ऐसे यज्ञ छिपाये फिरते रहे जो जन–जन हितकारी थे। जहॉ भी जैसी आवश्यकता प्रतीत

हुई वही यज्ञ के अश बिखेर दिये। उनकी अहिंसा, करुणा, परोपकार–बुद्धि आदि–आदि की भावनाएँ, धार्मिक और पारमार्थिक यज्ञ थे। जब तक जिए पर के लिये, देश के लिये और धर्म के लिए।

बाबा ने ससार चक्र को पैनी दृष्टि से परखा था फलत. वे अन्तिम परीक्षा तक उत्तीर्ण होते रहे। हल्का दिल का दौरा पड़ने पर सभाल के प्रयत्न किये गए, देश प्रमुखो ने सबोधन दिये। पर, बाबा ने किसी की न सुनी। वे एक सयमी–जैन सयमी की भॉति उस प्रतिज्ञा–आस्था पर दृढ़ हो गये जो जन–जन को दुर्लभ होती है। उन्होने औषधि, अन्न, आहार, उपचार आदि सभी से विरक्ति ले ली। वे अपने में इस आस्था से दृढ़ हो गए कि शरीर मरण धर्मा है–इससे मेरा कोई सरोकार नही–'वस्त्राणि जीर्णानि यथा विहाय।'

जैनी को अव्रती अवस्था मे भी अष्टमूल गुणधारी होना चाहिये–व्रत तो बहुत बड़ी निधि है। बाबा में जैन–मान्य ऐसी कौन–सी विधि नहीं थी? मोटे रूप से बहुत सी विधियाँ उनमे विद्यमान थी। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण, अणुव्रत सभी तो उनमे थे–जैनी के नाम से भले ही न सही, व्यवहार से वे सच्चे जैन श्रावक थे। काश! हमे सद्बुद्धि मिले और हम व्रत के बन्धन मे न बॅधे रहकर भी बाबा की भॉति आचरण मे अणुव्रतो जैसे पालन करने की सीख ले, तो हमे भी बिना प्रयत्न के सहज सल्लेखना प्राप्त हो सकती है। जिसका जीवन न्याय नीतिपूर्ण रहे और अन्त मे समाधि–मरण हो, वह जैनी नही तो और क्या? मेरी दृष्टि मे तो वे जैनी ही थे। उन्हें सादर नमन और श्रद्धाजलि।

और एक यह भी

–धर्म का सच्चा स्वरूप चारित्र अर्थात् आचरण है। और सम्यक् चारित्र का धारक (धर्म को जीवन मे उतारने वाला) धर्मात्मा है। धर्म और धर्मात्मा दोनो परस्पर–सापेक्ष है। फलत –जहाँ भी धर्म का प्रसंग उपस्थित हो, धर्मात्मा की खोज की जानी चाहिए। यद्यपि वर्तमान अबार पचमकाल मे

जीवों मे चारित्र मोहनीय के उपशम—क्षय—क्षयोपशम मे मन्दता लक्षित होती है और वे व्रत और नियमो की उच्च दशा मे नहीं पहुच पाते। तथापि धर्म के वाहको को उतना तो होना ही चाहिए जितना अव्रती श्रावक में अवश्यम्भावी है। जैसे आजन्म मद्य—मास—मधु का त्याग, पच उदुम्बरो का त्याग, अनछने जल और रात्रि—भोजन का मन—वचन—काय, कृतकारित—अनुमोदना से त्याग। यदि देव दर्शन, गुरुभक्ति करने का नियम हो तो और भी उत्तम।

श्रावको का कर्तव्य है कि धार्मिक प्रसगो मे उत्सव के मुखिया के चुनाव मे उक्त बातो का ध्यान करें और जिनशासन के महत्त्व को समझ धर्मचक्र को प्रभावक बनाने मे सहायक हो। अन्यथा हमने कई बार कईयो के मुख से उलाहने सुने हैं—

"क्या जिनदेव या गुरु भी ऐसे ही मुखिया थे, जैसे अमुक धर्म—सभा के अमुक नेता?—जिनमे 'जैनी' का एक भी चिह्न नहीं था।" 'जैसे नेता वैसी सभा और वैसा ही प्रभाव' आदि।

धर्म—उत्सवो के मुखिया बनने का आग्रह आने पर सबधित व्यक्तियो को भी सोच लेना चाहिए कि उक्त सदर्भ मे वे उस पद के कहाँ तक योग्य है? धार्मिक प्रसग में मुखियापने के लिए धर्म—विहीन—लौकिक बड़प्पन, लौकिक या राजकीय पद अथवा लौकिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कार्यकारी नही अपितु मुखियापने के लिए या किन्ही धर्म उत्सवो के उत्तरदायित्व सँभालने के लिए जिन—धर्मानुकूल स्थूल आचरण और धर्मविषयक स्थूल ज्ञान होना अनिवार्य है—ऊँचे नियमपालक और ज्ञाता हो तो सोने मे सुहागा। जरा सोचिए!

दिगम्बर महावीर के प्रति ऐसी बगावत क्यों?

हम वर्षों से लिखते आ रहे है, कि दिगम्बर जैन धर्म अपरिग्रह प्रधान धर्म है। इसमे अन्तरग—बहिरग सभी प्रकार के परिग्रह से रहित ही मुक्ति का पात्र होता है। इस तथ्य को न समझने वाले कई अजान, समानाधिकार

की बात उठाकर स्वय भ्रमित होते है और दूसरो को भी मार्गच्युत कराने के साधन जुटाते हैं।

जैसी कि सूचना है उस दिन एक दिगम्बर शिक्षण शिविर समापन समारोह मे कैलाशनगर की भरी सभा मे 'मां श्री' के संबोधन युक्त दिगम्बरमतावलम्बी ब्र० श्री कौशलकुमारी बोल उठी जैसे वे नही, अपितु कोई भ० रजनीश बोल रहे हो। आश्चर्य कि उस सभा मे दिगम्बर जैन समाज के नामधारी अनेक नेता बैठे–बैठे सब सुनते रहे और किसी से प्रतिवाद करते न बना, अब हमें विरोध मे लिखने को कह रहे हैं? जब कुछ नेताओं से हमारी बात हुई तो पछता रहे थे कि यह तो बुरा हुआ जो श्री कौशल जी ने भ० महावीर को अन्यायी कहकर ललकारा। प्रकारान्तर से उन्होने सवस्त्र और स्त्रीमुक्ति की पुष्टि कर दी, आदि।

ब्र० कौशल जी का मन्तव्य था कि भ० महावीर ने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर बड़ा अन्याय किया है। उन्होने स्पष्ट कहा कि मै आगम के विरुद्ध बोल रही हूँ। उन्होने कहा कि क्या यह न्याय है कि एक चिरकाल–दीक्षित आर्यिका किसी नवीन दीक्षित मुनि को नमस्कार करे, आदि।

उक्त बाते दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध है और किसी त्यागी को नही कहनी चाहिए। जो श्री कौशल जी ने भरी सभा मे कही। इससे तो दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध ही प्रचार हुआ। यदि उन्हे शका थी तो किसी विद्वान् से चर्चा कर लेनी थी।

कमल को पकज कहा जाता है, वह पक (कीचड़) से उत्पन्न होता है। वह देखने मे सुन्दर, स्पर्श मे कोमल, सूघने मे सुगन्धित होता है। उसे सभी जगह सम्मान मिलता है। क्या कभी कमल की मॉ कीचड़ को ऐसा सौभाग्य मिला है? पृथ्वी को रत्नगर्भा कहा जाता है। उससे रत्न, हीरे आदि जन्मते है। वे अत्यन्त कान्तिमान होते है और उसके छोटे टुकड़े को भी बहुमूल्य आका जाता है। क्या कभी पृथ्वी के बड़े खण्ड को भी ऐसा सुयोग प्राप्त होता है? भले ही मा तीर्थंकर को जन्म देती हो तब

भी वह उनकी तुलना नही कर सकती—सबकी अपनी पृथक्—पृथक् योग्यता है जैसे पुरुष कभी बच्चे को अपने गर्भ से जन्म नही दे सकता, आदि।

स्त्री की मुक्ति में उसका परिग्रह बाधक है। वह कभी भी पूर्ण अपरिग्रही नही हो सकती—भीतर और बाहर नग्न नही हो सकती। ब्र० कौशल जी तो स्वय स्त्री जाति है, क्या किसी स्त्री ने कभी खुले रूप से नग्न रूप मे विचरण की कोशिश की, साड़ी जैसे बाहर परिग्रह को छोड़कर देखा? स्त्री जाति मे लज्जा और भय दोनो ऐसी कमजोरियॉ हैं जो उसे महाव्रत धारण नहीं करने देती? उसे सदा—सदा रक्षा की जरूरत है। यदि वह निर्भय होकर विचरण की बात करे तब भी नही बनती, वह तो स्वाभाविक बात है। वैसे भी नारी जाति स्वभावत मोहक शक्ति है। बाजारों, गलियों और मुहल्लो मे वस्त्राच्छादित नारी भी मनचलो को लुभा लेती है तब परिग्रह रहित नग्ननारी कैसे सुरक्षित रह सकती है? सुरक्षित रहना उसके बस की बात नही, वह परायो के आधीन है। दुर्भाग्य से यदि कोई दुर्घटना हो जाय तो नारी को नव—मास और उससे आगे भी घोर—परिग्रह के जजाल मे फसना तक सभव है। क्या करे, उसके शरीर की बनावट और शक्ति ही ऐसी है जो उसे अपरिग्रही नही होने देती और बिना पूर्ण—अपरिग्रही हुए मुक्ति नही होती। नारी के गुप्त अगो मे सदाकाल असख्यातजीवो की उत्पत्ति होती रहती है।

भ० महावीर को अन्यायी कहना सर्वथा ब्रह्मचारिणी जी के अहम्भाव का सूचक है—भ० महावीर की वाणी से तो वह वस्तु—स्थिति ही प्रकट हुई—जो पूर्व तीर्थंकरो ने कही। ये ही बाते आर्यिका को मुनि से छोटा दर्जा देती है। आश्चर्य, कि मुनि को नमस्कार करने न करने की जो बात माता श्री ज्ञानमती को स्वय आज तक न सूझी वह कुमारी कौशल जी को सहसा कैसे सूझ गई? कही यह दिगम्बरो के प्रति बगावत का चिह्न तो नही?

कुमारी कौशल जी को सुना जाता रहा है कि उन्हे कट्टर श्रद्धा और परिपक्व ज्ञान है। उनके उक्त महावीर के प्रति बगावत करने के बयानो से तो ऐसा नहीं लगा। उन्होने तो स्वय कहा कि—मै आगम के विरुद्ध

बोल रही हू। आखिर, यह सब क्यो? यह उन्हे और विचारको को स्वयं सोचना है। और यह भी सोचना है कि क्या किसी दिगम्बर त्यागी द्वारा खुले रूप मे ऐसे बयान दिए जाना धर्म के प्रति बगावत नहीं? जब कि हमे तो दिगम्बर आगम ही प्रमाण हैं।

आत्मा को देखने दिखाने वाले जादूगर

अर्सा हुआ जब परिग्रह को आत्मसात् करते हुए आत्मोपलब्धि की बात करने वाले किसी पन्थ का जन्म हुआ। भोले लोग बिना तप–त्याग के ही आत्मोपलब्धि जान, खुश हो गए–बातो की ओर दौड़ पड़े। नतीजा सामने है–उन्हें आत्मा तो मिली नही, उनमे कितने ही परिग्रह के पुज अवश्य हो गए।

जैनियो मे आत्मोपलब्धि के लिए बारह भावनाओ पर जोर दिया गया है, सभी महापुरुषो ने इनका चिंतवन कर ही वैराग्य लिया है। अब तक की सभी रचनाओ में इन्ही की रचना अधिक सख्या मे हुई है। ५१ प्रकार की बारह भावनाएँ तो हमने देखी हैं–कुन्दकुन्दादि की 'वारसाणुबेक्खा' आदि तो इस गणना से पृथक् है।

आत्मा जैसा अरूपी द्रव्य केवलज्ञानगम्य है और केवलज्ञान दिगम्बरत्व की पूर्ण साधना द्वारा, घातिया कर्मो के क्षय पर होता है। फलत – आत्मोपलब्धि के लिए पूर्ण दिगम्बरत्व–अपरिग्रहत्व की प्राप्ति आवश्यक है और अपरिग्रहत्व के लिए बारस–भावनाओ द्वारा पर–स्वभाव का चिन्तन (अनित्यादि विचार) आवश्यक है। "पर" से राग छूटते ही आत्मोपलब्धि होती है किसी जादूगर के उपदेश से आत्मोपलब्धि सर्वथा ही अशक्य है।

जैसे जादूगर के जादू से जादूगर स्वय प्रभावित नहीं होता–जादू की बनावट जानता है, धन्धा चलाने के लिए जादू को अपनाता है। वैसे ही आत्मोपलब्धि की राह दिखाने की बात करने वाले कई जादूगर अपनी यश–ख्याति आदि के लिए इस धन्धे मे लगे है–उन्हे आत्मोपलब्धि से क्या? अन्यथा, उनमे कोई तो परिग्रह से दूर हुआ होता, क्रमश परिग्रह

के कम करने में लगा होता या सच्चा मुनि बना होता। ठीक ही है—जादूगर को जादू से काम—धन्धा चलाने से काम—उसे आत्मोपलब्धि से क्या और अपने जादू से प्रभावित होने से क्या?

कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सफलता?

जब सन्देश मिलते है—श्रीमान् जी, हम आचार्यश्री कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य मे अमुक तिथि मे गोष्ठी या सेमीनार कर रहे हैं। अनेको विद्वानो की स्वीकृति आ चुकी है। आप भी आइए—विचार प्रकट करने। किराया दोनो ओर का दिया जायगा, कुछ भेट भी देगे। भोजन और ठहरने की सभी सुव्यवस्थाये रहेगी, आदि।

तब हम सोचते है—क्या लिखे? इन घिसे—पिटे प्रोगामो के सम्बन्ध में, सिवाय यह सोचने के कि—हम पहुँच तो सकते है बिना किराया और भेट लिए ही। और विचार भी प्रकट कर देगे बिना कुछ खाए—पिए भी। पर, लोकेषणा के इस माहौल मे सचाई को सुनेगा और मानेगा कौन? सभी तो मान—सम्मान और पैसे के नशे मे है—कोई ज्यादा कोई कम। क्या श्रोताओं और सयोजको के लिए गोष्ठी की सफलता (जैसा चलन है) किराया आदि देकर, हो हल्ला मचाने—मचवाने तक ही तो सीमित न रह जायेगी? या होगे कुछ सयोजक और कुछ श्रोता वहाँ? जो कुन्दकुन्द जैसे आदर्शो को आत्मसात् करेगे—उनके जीवन और उपदेशो को आदर्श मान प्राण—पण से उन पर चलने को तैयार होगे? आदि। जैन तो आचार—विचार मे समुन्नत होता है। आज तो कई त्यागी भी शिथिल है।

हमें याद है—कभी २५००वॉ निर्वाणोत्सव भी मनाया गया था। तब बड़ी धूम थी और लोगो मे जोश—खरोश भी। तब लोगो ने प्रभूत द्रव्य का हस्तातरण भी किया। तब बड़े—बड़े पोस्टर लगे, किताबे छपी, पण्डाल बने। सम्मेलन, भाषण और भजन कीर्तन भी हुए। कही—कही महावीर के नाम पर पार्क भी बने, भवन बने और कई सड़के भी अपने मे महावीर मार्ग नाम पा गईं। यह जो हुआ शायद भावावेश मे कदाचित् अच्छा हुआ

हो। कुछ थोथे नेता नाम पा गए हो उनकी भी हम आलोचना नहीं करते। पर, लोग आचार की दृष्टि से जहाँ के तहाँ भी न रह सके वे स्वयं नीचे ही खिसके–सबके आचार–विचार गिरते गए, इसका हमें दुख है। और–आज स्थिति यह आ गई कि जो मोटी–मोटी बाते जैनेतरो को समझाई जानी थी वे जैनियो को सबोधित करके स्वय ही कहनी पड़ रही हैं। जैसे–

भाई जैनियो! रात्रिभोज का त्याग करो, सप्त व्यसनो से बचो, पानी छान कर पिओ, नित्य देव दर्शन करो, अहिसा आदि चार अणुव्रतों का पालन और पाँचवे परिग्रह मे परिमाण को करो। और पूज्य–पद मे विराजित मुनिराज भी अन्तरग बहिरग सभी भाँति से निर्ग्रन्थ रहने के लिए तीर्थंकर महावीर और कुन्दकुन्दवत् निज–ज्ञान, निज–ध्यान और निज–तप मे लीन रहने की कृपा करे। समाज और अन्यो के सुधार चक्करो, भक्तो के अनिष्ट निवारण–हेतु मत्र–तत्र जादू–टोना आदि करने से विरत हो। सघ के निमित्त वाहन आदि के सग्रह से विरत हो। अन्यथा, हमे डर है कि–कही वे स्टेजो, फोटुओ, जयकारो और भीड़ के घिराओ मे ही न खो जायॅ और आर्ष–परम्परा से च्युत न हो जायॅ। वे पूर्वाचार्यों कृत आगमो का अपने हेतु अध्ययन करे। यदि आचार्यगण नई–नई रचनाओ के चक्कर मे पड़ेगे तो वे भले ही छोड़ी हुई जनता मे पुन. आ जायॅ–नाम पा जायॅ, जिनवाणी का अस्तित्व तो खतरे मे ही पड़ जायगा–उसे कोई नही पढ़ेगा और काल्पनिक नवीन ग्रन्थ ही आगम बन बैठेगे।

आचाररूप धर्म की रक्षा व वृद्धि करने मे ही उत्सव मनाने की सफलता और प्रभावना है। वरना, जैसा चल रहा है, वह बहुत दुखदायी है। कभी–कभी तो श्रावको और मुनियो से सम्बन्धित कई अटपटे समाचारो और प्रश्नावलियो के पढ़ने और सुनने से रोना तक आ जाता है। जहॉ दिन था वहॉ रात जैसी दिखाई देती है। ऐसा क्यो? यह सोचने की बात है।

एक ओर जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्दी मनाने के नारे लग रहे है वहीं दूसरी ओर कुछ जैनी ही कुन्दकुन्द के आचार–विचार को तिलाजलि दे, जैनियो की जैन–मान्यताओ को झुठलाने के प्रयत्न मे लगे

है। कोई आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और महादेव (रुद्र) को एक ही व्यक्ति मानने–मनवाने के प्रयत्न मे है तो कही एक कोशिश यह भी है कि महावीर तीर्थंकर को मौजूदा निर्धारित समय से १२०० साल पूर्व ले जाया जाए, आदि। और यह सब कुछ हो रहा है–कुछ विद्वानो, कुछ नेताओ और कुछ समर्थ श्रावको की छाया मे–धन के आसरे या यशलिप्सा मे। क्या, ऐसे मे जैन की पहिचान और आत्मकल्याणभूत आचार–विचार सुरक्षित रह सकेगे? क्या इसी को द्वि–सहस्राब्दी की सफलता कहा जायगा? जरा सोचिए।

ऋषभ और महेश्वर : दो व्यक्तित्व

प्रसिद्ध जैनकोश–अभिधान राजेन्द्र के भाग ६ पृष्ठ ५६७ मे रुद्र शब्द के अर्थों मे एक अर्थ महादेव भी दिया है। वहॉ पर श्वेताम्बर–आगम 'आवश्यकवृहद्वृत्ति' से महादेव की उत्पत्ति की कथा को भी उद्धृत किया गया है। यह कथा प्राकृत भाषा मे है। श्वेताम्बर आचार्य भद्रबाहु स्वामी प्रणीत 'निर्युक्ति' की दीपिका टीका मे भी पृ० १०८ पर ऐसी कथा संस्कृत मे निबद्ध है। यही महादेव महेश्वर जैनियो मे ग्यारहवे रुद्र है और इनका समय तीर्थंकर महावीर का काल है–भगवान ऋषभदेव के लाखो वर्षों बाद का काल है। जैन मान्य महेश्वर (रुद्र) की कथा इस प्रकार है –

"अत्र महेश्वरोत्पत्ति–चेटकजा सुज्येष्ठा दीक्षितोपाश्रयान्तराता–पयति, इत पेढाल परिब्राड् विद्यासिद्धो विद्या दातु नर दिदृक्षुश्चेद् ब्रह्मचारिण्या सुत स्यात्तदा तस्मै विद्या दद इति तस्या धुमिकाव्यामोहेन विद्यया शीलविपर्यास कृतस्तत ऋतुकालत्वाद्गर्भे जाते ज्ञानिभिरुक्त नैतस्या कोऽपि दोष इति छन्न स्थापिता सुतो जात श्राद्धगृहे वर्धते। तत समवसृतिं गत साध्वीभि सह कालसन्दीपनो विद्याभृत्प्रभुमपृच्छत्–कुतो मे भी ? प्रभुराहा–ऽस्मात्सत्यकेरिति। स पित्रा हृत्वा विद्या शिक्षितो महारोहिणी साधयत्ययं सप्तमो भव । पञ्चसु विद्यया हत , षष्ठे षण्मासशेषायुषा विद्या न स्वीकृता, इह साधयितुमारब्धा। अनाथमृतकचिता कृत्वाऽऽसन्ने आर्द्रचर्म विस्तार्य तदूर्ध्वं काष्ठज्वलनावधि वामाङ्गुष्ठेन चलति, अत्राऽन्तरे कालसन्दीपन

काष्ठान्यक्षिपत्। ततः सप्तरात्र सुर्यूचेऽस्य मा विघ्न कृथास्तत विद्धाके प्रवेश याचन्ती भाले दत्तेऽतिगता, बिले जाते तृतीयं नेत्रमकृत। तेन पिता हतो मन्माता राजसु घर्षितेति ततो रुद्राख्या। तद्भयात्कालसन्दीपनो नश्यन् पुरत्रय कृत्वाऽर्हदह्र्योस्तस्थौ, रुद्रेण पुरेषु हतेषु सुर्य आहुर्वयं विद्या सोऽर्हत्पार्श्वेऽस्ति ततस्तेन तत्र गत्वा क्षामित। अन्य आहुर्लवणे महापाताले हतस्तत स विद्याचक्र्यभूत्। त्रिसन्ध्यं सर्वविहरदर्हतो नत्वा नाट्य कृत्वा ततो रमते। तस्येन्दो महेश्वराख्या ददौ, स द्विष्टो द्विजकन्याना शत शतमन्यस्त्रीश्च रमयति, तस्य नन्दीश्वरो नन्दी च मित्रे पुष्पक विमान, सोऽन्यदोज्जयिन्या प्रद्योतस्य शिवां मुक्त्वाऽन्यराज्ञीषु रमते, राड् दध्यौ मारणे क उपाय? उमा वेश्या सुरूपा तस्मिन्नागते धूप दत्तेऽन्यदा स मुकुलित प्रबुद्ध च पुष्प करे लात्वाऽस्थात् स प्रबुद्ध ललौ तयोक्त मुकुलार्हस्त्व नाऽस्य, यतोऽस्मासु न रमते। ततस्तस्या रतस्त्व कदाऽविद्य स्या? इत्युमापृष्टोऽयम् मैथुनक्षणे। राज्ञा तज्ज्ञात्वा स तदोमासहितो घातितस्ततो नन्दीश्वर खे शिला कृत्वा तत्रैव, राजा सार्द्रपटो नत्वा क्षामितवान्, सोऽबगीदृग्रूपेण महेश्वरस्याऽर्चने पुरे पुरेऽस्य स्थापने च मुञ्चे, ततो लोकैस्तथा प्रासादा कारिता इति रुद्रोत्पत्ति।"–आवश्यक निर्युक्ति दीपिका–पृ० १०८

श्वे० जैन मान्यतानुसार उक्त कथा महादेव–महेश्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे है। कथा के अनुसार इन महादेव का मूल नाम सात्यकि है और सात्यकि को महेश्वर सज्ञा इन्द्र द्वारा प्रदान की गई है और इनको रुद्र भी कहा गया है। यद्यपि कथा मे उमा, नन्दी जैसे नाम भी है। इस कथा मे महेश्वर द्वारा नाट्य करने का भी उल्लेख है पर ये ज्येष्ठा के पुत्र है। ज्येष्ठा महावीर कालीन राजा चेटक की पुत्री है और महावीर और ऋषभ के काल मे लाखो वर्षों का अन्तराल है फलत इन महादेव को ऋषभ नही माना जा सकता।

दिगम्बरो के आराधना कथाकोश की सात्यकिरुद्र की कथा भी इसी कथा से प्राय मिलती–जुलती है। और दोनो ही सम्प्रदाय ऋषभ और महावीर मे लाखो वर्षो का अन्तराल मानते है। ऐसी अवस्था मे भी इन महेश्वर

और ऋषभ को एक ही व्यक्ति मानने–मनवाने की किन्हीं जैन विद्वानों की सूझ है? जबकि जैनी तो जैन–कथानक (प्रथमानुयोग) को अप्रमाण मानेगा ही नही और मानेगा तो वह श्रद्धानी नही होगा। इसके सिवाय हमारी दृष्टि से तो उक्त जैन–महेश्वर और त्रिमूर्ति–ब्रह्मा, विष्णु, महेश गत महेश्वर भी पृथक् २ दो व्यक्तित्व ही होने चाहिए। जैसी कि जैनेतरो की मान्यता है। महेश्वर संहारक शक्ति रूप, ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षा करने मे तत्पर। उनकी दृष्टि मे ये शक्तियाँ ऋषभ से बहुत पूर्व की हैं और ऋषभ को उन्होने भी आदि अवतार न मान बाद का–आठवा अवतार ही माना है। ऐसे में इन महेश्वर और ऋषभ को भी एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व है और दोनों सम्प्रदायो मान्य दोनो की महिमाये भी पृथक् है और दोनो ही अपने मे महान हैं

एक ओर तो हम कुन्दकुन्द द्वि–सहस्राब्दी मानने के नारे लगाए और दूसरी ओर शक्ति, समय और पैसा बरबाद कर जैनाचार्यों की सही कथनी और आचार प्रक्रिया पर पानी फेरे–यह कैसे न्याय है? वर्तमान वातावरण को देखते हुए हम तो यही उचित समझते है कि हमारा सारा जोर ऐसी निरर्थक शोधो से हट जैन की चारित्र–शुद्धि पर हो, प्राचीन मूल–आगम रक्षा पर हो, इसी में द्विसहस्राब्दी की सार्थकता है–इसे सोचिए।

क्या कभी शास्त्र भी नहीं मिलेंगे?

समाज मे काफी अर्से से चिन्ता व्याप्त है और जगह जगह चर्चाए भी होती है कि अब विद्वान नही मिलते। पर, हमे तो इसके सिवाय कुछ और ही दीखता है–अब बहुत कुछ वातावरण ऐसा भी बनता जा रहा है कि कुछ काल बाद ऐसी भी आवाजे आने लगेगी कि पढ़ने को शास्त्र ही नही मिलते– नई किताबो के ढेर है। कारण यह कि लेखक अपनी भाव–भगिमा से नित नए–नए रोचक ग्रन्थो का निर्माण करने मे लग बैठे हैं–कुछ का यह व्यापार आर्थिक दृष्टि से है और कुछ लोग अपना नामयश छोड़ जाने की लालसा मे इन्हे लिखते है कि मर जाने के बाद लोग

कहे–अमुक विद्वान ने अमुक ग्रन्थ लिखे। वे सोचते है–'गर तू नही तेरा तो सदा नाम रहेगा।'

इसका तात्कालिक फल यह हुआ कि–लोगों की रुचि प्रामाणिक प्राचीन शास्त्रो से हटकर नित नवीन–२ रचनाओ के पढ़ने मे लग बैठी–कोई पुस्तक खरीदने कहीं दौड़ रहा है तो कोई कही। यानी अब शोलापुर और अगास जैसे स्थानो से लोगो का लगाव न के बराबर जैसा रह गया हो। हाँ,

यह तो निश्चय है कि शास्त्रो के पढ़ने मे श्रम की अपेक्षा है। उनकी भाषा प्राकृत–सस्कृत अप्रभ्रश या पूर्वकालीन देश–भाषा हिन्दी होने से वे सुगम–ग्राह्य न हो रागियो की दृष्टि से उनमे वर्तमान भाषा जैसी चटक मटक और भाव–भगिमा भी नही और ना ही अब उन भाषाओ के सरल–बोध देने वाले विद्यालय और पाठशालाये है–वे तो हमारे देखते देखते खडहर हो गए। भला, जब पडित ही बे मौत मारे गये, तो उनके आसरे भी कहाँ? सब का लोप हो गया। अब पूछेगे ऐसा क्यो हुआ? सो यह मत पूछिए, इसकी कहानी बड़ी लम्बी और दर्दनाक है–फिर कभी सुना देगे–पडितो और सस्थाओ के लोप मे समष्टि का ही हाथ है। खैर,

अब समय ऐसा आ गया है कि समाज को इस दिशा मे सावधान होना चाहिए। प्राचीन मूल आगमो के अधिक सख्या मे पठन–पाठन और प्रचार के उपाय होने चाहिए। उनमे अनुकूल–मूल भी विभिन्न भाषाओ मे दे दिये जायँ। इस दिशा मे प्रगति के लिए जगह जगह पाठशालाये खुले, जिनमे मूल के अर्थ पढ़ाने का प्रबन्ध हो। तभी आगम सुरक्षित रह सकेगे।

आपने देखा होगा–अन्यमतावलम्बियो मे वेद, गीता, उपनिषद, गुरु ग्रन्थसहित ओर कुरान के (लोगो की श्रद्धा मे) आज भी वे ही स्थान है जो पहिले जमाने में थे। जब कि हमारे बहुत से जैनी अपने शास्त्रों के नाम तक नहीं जानते–वे आधुनिक रचनाओं को ही शास्त्र मान रहे हैं। जरूरत इस बात की है कि नई रचनाओ के प्रकाशन व निर्माण में व्यय होने वाली शक्ति और धन को रोका जाय और उसका सदुपयोग प्राचीन

आगमो की रक्षा मे किया जाय। अन्यथा, वह समय दूर नही जब लोग यह कहने को मजबूर होगे कि—अब शास्त्र ही नही मिलते। जरा सोचिए!

प्रतिष्ठा में उभरे प्रश्न

समाज मे पचकल्याणक उत्सवो का प्रचलन प्राचीन है और पचकल्याणक अब भी होते हैं। कहा जाता है ऐसी सब क्रियायें मूर्ति—शुद्धि के बहाने धर्म प्रभावना के लिए और तीर्थंकर—चरित्रो को आत्मसात् करने के लिए होती है। बीच के काल मे जब जैन सामान्य मे पन्थ होते हुए भी परस्पर भेदभाव का जोर नही पनपा था, तब पचकल्याणको, प्रतिष्ठाओ आदि की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे भेद उजागर नहीं थे। आज जब तेरा, बीस का चक्कर जोरो पर पहुच गया तब लोगो मे नए—नए प्रश्न उभर कर सामने आने लगे—लोग आचार्यों तक के पास निर्णयो को पहुचने लगे—हालाकि आज के साधु भी पथ—वाद मे फँसे है।

गत दिनो स्थानीय कैलाशनगर दिल्ली मे हुई प्रतिष्ठा के बाद यहाँ अनेको प्रश्न उभरे है और कई लोगो ने किसी मूर्ति के बहाने को लेकर हमसे कुछ समाधान भी चाहे है। पर, हम निवेदन कर दे कि हम उस प्रतिष्ठा मे न जा सके और न ही हमे प्रतिष्ठा विषयक कुछ ज्ञान है। प्रतिष्ठाओ के विषय मे तो आगम और प्रतिष्ठाचार्य ही प्रमाण होते है—वे जैसा निर्णय ले। प्रश्नो को हम ज्यो के त्यो लिख रहे है। आशा है प्रतिष्ठाचार्य गण कोई निराकरण देगे। यदि कोई निराकरण हमारे पास आए तो पाठको के लाभार्थ यथा शक्ति हम छाप भी देगे।

प्रश्नावली :

(१) पचकल्याणक तीर्थंकरों के ही होते है या सामान्य सभी अरहतो के भी?

(२) क्या आगम मे आचार्य उपाध्याय और साधु की प्रतिमाये बनने का विधान है? यदि हाँ तो—

(३) क्या, इनकी मूर्तियो की प्रतिष्ठा का पच कल्याणको मे विधान है? और इन पर छत्र क्यो?

(४) सप्तर्षियो की प्रतिमाओं का चलन कौन से पथ का है—आगम प्रमाण दे।

(५) क्या, सहारा देने के लिए प्लेट मे पेचो से कस कर खड़ी की गई मूर्ति (छेदित होने के कारण) खडित नहीं होती? क्या ऐसी मूर्ति प्रतिष्ठा के योग्य होती है?

(६) क्या, अमूर्तिक सिद्ध भगवान का चरम आकार अरहतो की प्रतिमा के समान सशरीर (मूर्तिक) रूप मे ओर छत्रयुक्त बनाए जाने का आगम में विधान है?

(७) क्या, जीवो की रक्षा निमित्त अग्नि, धूप, दीप और होम का निषेध करने वाले हमारे तेरापथ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठाओ मे बड़े—बड़े आरम्भिक क्रियाकाण्ड करने कराने और हजारो २ बल्बो के जलाने आदि मे अहिंसा कायम रह जाती है? या ये हमारे थोथे आडम्बर है?

(८) क्या, अभिषेक—इन्द्र—सारथी आदि और पीछी—कमण्डलु की बोली लगाकर पैसा इकट्ठा करने का आगम मे विधान है? जरा सोचिए।

क्या ऐसे नहीं हो सकतीं प्रतिष्ठायें?

हो सकता है कभी हमारे पूर्वजो ने धन दिया हो। पर, हम तो दान नही, अपितु वाछित यश की कीमत ही अग्रिम चुका रहे है। हम कही किसी को जो दे रहे है प्रशसा के लिए ही दे रहे है। ज्यादा क्या कहे? आज तो प्राय लोग धन के बहाने धर्म को भी व्यापार बना बैठे है—धर्म को विकृत कर रहे है। जैसे—हमने कभी नही सुना कि कही शास्त्रो मे ऐसा उल्लेख हो कि चन्दा इकट्ठा करके चौका लगा हो और किसी मुनि ने—उसमे आहार लिया हो। यह परिपाटी तो सदावर्तो जैसी हुई—उद्दिष्ट आहार से

भी बदतर जैसी ही हुई। मुनि उसमें क्यों और किस विधि से आहार ले सकते हैं? वे तो लौट जाएँगे। यदि अब कोई लेते हों तो यह शास्त्रों के विपरीत चर्या ही होगी।

आज ठीक ऐसी ही परम्परा कई पचकल्याणकों के कराने मे भी देखी जा रही है। लोग चन्दा इकट्ठा करते है और पचकल्याणक कराने का झण्डा गाड़ देते है। उनका लक्ष्य होता है–चन्दा इकट्ठा कर खर्चे की पूर्ति करना और कुछ बचा भी लेना। और वे इसमे सफल भी होते हैं–'हर्रा लगे न फिटकरी रग चोखा ही आय।' इस तरह पचकल्याणक भी हो जाते है और कहीं–कहीं तो अच्छी खासी बचत भी हो जाती है। और वह अन्य धार्मिक या सामाजिक कार्यों के लिए रिजर्व रख ली जाती है। इस प्रकार घूम फिर कर समाज का द्रव्य समाज के पास ही सुरक्षित रह जाता है– जो पहिले व्यष्टि रूप मे था वह अब समष्टि रूप मे हो जाता है और ब्याज मे मिल जाती है मूर्तियो की प्रतिष्ठा। ऐसे मे दान और धर्म कहाँ हुआ? भावो मे तो उस दान–द्रव्य के प्रति स्वत्व ही बैठा रहा। दान तो वहाँ होता है जहाँ स्वत्व का त्याग हो और धर्म वहाँ होता है जहाँ आत्मा मे निखार हो। यहाँ तो ममत्व और राग के सिवाय अन्य कुछ भी नही हुआ। उलटा ममत्व–और वह भी दान के–पर के सामूहिक द्रव्य के सरक्षण आदि मे बना रहा। जब कि जैन धर्म अपने द्रव्य मे भी ममत्व के त्याग का उपदेश देता है।

पहिले नही सुना गया कि मूर्ति निर्माण, पचकल्याक या गजरथ आदि कभी चन्दे से होते रहे हो–चन्दे की परिपाटी तो इसी काल मे पड़ी दिखती है। पहिले तो ऐसे पुण्यकार्य किसी एक के द्रव्य से ही होते रहे सुने है और ऐसे मे ही ममत्व–त्याग सभव है–चन्दे का प्रश्न ही नही। इन्हे कराने वाला व्यक्ति उदारभाव से नि शल्य होकर द्रव्य का सदुपयोग करता था। सपादन कराने वाले को स्वस्यातिसर्ग मे रुचि होती थी। वह बोलियो जैसी कुप्रथाओ के सहारे सग्रह नही, अपितु स्वय की शक्ति के अनुसार स्वय के द्रव्य से प्रतिपादित कराता था। भला, वह भी कोई धर्म है जिसमे अभिषेक, पूजा, आदि जैसे अधिकारो की खरीद फरोख्त रुपयो से होती हो, इन्द्र

और सारथी आदि के आसन रूपयो मे बिकते हो, आदि। क्या जैनियो मे भी व्रत–तप आदि से प्राप्त होने वाली पदवियाँ भी पैसे से खरीदी जा सकती है?

निःसन्देह इसमें शक नही कि चाहे कार्य कैसे ही किन्ही उपायो से भी सम्पन्न हुए हो, चन्दे या बोलियों से ही सही–भविष्य मे तो लोगो को धर्म के आधार होते ही हैं। प्रतिष्ठाये होती है तो जनता को सदा–सदा दर्शन पूजन की सुविधायें भी तो मिल जाती है। पर सोचना यह है कि क्या इस सबके लिए ऐसी बड़ी द्राविडी–प्राणायामो के सिवाय कुछ और भी सरल मार्ग हो सकते हैं? सभी जानते है कि हमारे यहाँ णमोकार मत्र महामत्र माना गया है। इसके प्रभाव से कठिन से कठिन सकट तक टल जाते है और यह आत्मा तक को शुद्ध कराने मे समर्थ है और मुनिगण भी हर बाह्य–अतरग शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण में इसका उपयोग करते है। तो क्या मूर्ति की शुद्धि, प्रतिष्ठा के लिए इस मंत्र के लाखो लाखो जपो का प्रयोग करके मूर्ति की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न नही किया जा सकता? शुद्धि और सकट निवारण के लिए मरते दम तक इस मत्र का जप किया जाता है। कहा भी है–

'एसो पंच णमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पढम होइ मगल।।'

हम बिना किसी पूर्वाग्रह के जानना चाहते है कि, प्रतिष्ठाओ मे जो बोली, चन्दे चिट्ठे और दिखावे आदि जैसे अनेको आडम्बर घुस बैठे है वे कहाँ तक धर्म सम्मत है। हमारी दृष्टि से या तो प्रतिष्ठाएँ प्रतिष्ठाशास्त्रो के अनुसार बिना किन्ही आडम्बरो के हो यदि नही तो, क्या प्रतिष्ठा के निमित्त कोई ऐसी व्यवस्था उपयुक्त न होगी कि सामूहिक रूप मे णमोकार मत्र के लाखो–लाखो की सख्या मे जप कर लिए जायँ। इससे मूर्ति तो प्रतिष्ठित होगी ही, मत्र जप करने से सैकड़ो–हजारो भक्तो के तन–मन भी पवित्र होगे। बड़े से पण्डाल मे जब हजारो भक्त धोती दुपट्टा पहिने मन्द स्वर में मत्र बोल रहे होगे तब समाँ और ही होगी और व्यर्थ के

झंझटों से मुक्ति भी होगी। तब न तो गाजे बाजे का प्रबन्ध करना पड़ेगा और न ही प्रभूत द्रव्य की चिन्ता होगी। परिग्रह और आरम्भ से भी छुटकारा मिलेगा—जो जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य हैं। जरा सोचिए!

जब मांझी नाव डुबाए

प्रश्न बड़ा टेढ़ा था। सुनकर हम अवाक् रह गए। उन्होने कहा—पण्डित जी, दिगम्बरत्व की रक्षा का प्रश्न है, वह किससे और कैसे हो सकेगी? आज के दिगम्बरो (श्रावको और मुनियो) मे ऐसी सामर्थ्य है क्या? जबकि, दोनो ही दिगम्बरत्व को ताक मे रख दिगम्बर वेषमात्र की पूजा, अर्चना, उपासना मे लगे है। क्या आप बताएँगे कि दिगम्बर किसे कहते है? हमारे गणधरो और मान्य पूर्वाचार्यों ने दिगम्बर का सच्चा स्वरूप कैसा बताया है?

हमने कहा—दिगम्बर धर्मी है और दिगम्बरत्व धर्म है। धर्म से धर्मी और धर्मी से धर्म कभी अलग नहीं होते। जैसे अग्नि से उष्णत्व और उष्णत्व से अग्नि कभी अलग नही होते। यदि अलग हो जायँ तो दोनो का ही घात है। दोनो मे से एक भी नही रहेगा।

आज स्थिति विचित्र है। लोग गतानुगतिक है, यहाँ पर देखा—देखी प्रवृत्ति चलती है। जो लोग धर्म और धर्मी का विवेक न कर, केवल वेशमात्र को महत्त्व देते है—एकागी प्रवृत्ति करते है, वे धर्म और धर्मी दोनो का घात करते है और देखा—देखी की परम्परा आगे बढ़ती जाती है। यदि कोई जानकार इस भौड़ी परम्परा का विरोध भी करे तो उसे 'बागी' का नाम दिया जाता है—समाज से वहिष्कृत करने की धमकी तक दी जाती है या स्वय भयभीत वह मुख नही खोलता। नतीजा यह होता है कि तब 'निरस्त पादपेदेशे एरण्डोऽपिद्रुमायते' जैसी स्थिति बन जाती है अर्थात् जहाँ बड़े वृक्ष नही होते वहाँ एरण्ड के पौधे को भी बड़ा वृक्ष माना जाता है।

आज लोग पूछते है कि क्या पूर्वकाल मे भी यही स्थिति रही होगी? हम तो सत्श्रद्धालु है, प्राचीन दिगम्बरो के विषय मे। जब तक इस प्रदेश

मे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज नहीं आए थे—हमें भलीभांति स्मरण है कि तब इधर दिगम्बर के अभाव मे लोगो में दिगम्बरो के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे परोक्ष रूप मे पढ़ते थे—'मोहि कब मिलिहैं उपकारी' आदि। अब तो स्थिति यह है कि भविष्य मे, आज के साधारण युवक से कोई पूछेगा कि आपके दिगम्बर कैसे होते हैं? तो आज के सदर्भ में वह उनकी पहिचान निम्नरूप मे अंकित करेगा—

दिगम्बर मुनि वे होते है जो नग्न रहते और पीछी कमंडलु धारण करते हैं। ऊँची स्टेजो पर बैठकर माइक पर मन मुग्धकारी प्रवचन करते है। शून्य स्थानों की जगह जो घने नगरो मे वास करते है। मुनि के ठहरने योग्य स्थान के होने पर भी जो भेदभाव के बिना श्रावक—श्राविकाओ के निवास योग्य बँगलो, कोठियो, घरो मे ठहरते है। वर्षों एक ही नगर मे रहते है। जो धार्मिक अनुष्ठानो के लिए चन्दा—चिट्ठा कराने मे रुचि रखते है, आदि। बस, दिगम्बर का यही रूप रह जाएगा। आगम विहित रूप के दर्शन भी न होगे। **केवल महन्त या मठाधीश ही होंगे।**

उक्त परिस्थितियो से क्षुब्ध किसी सज्जन ने लिखा है—"आज जैन समाज मे धर्म के नाम पर जो कुछ दिया जा रहा है, साधारण परिवार इससे जरा भी लाभान्वित नही है। जगह—जगह उत्सव, महोत्सव, मेले—ठेले, टेकरियो के निर्माण आदि। ये रत्नत्रयधारी त्यागी मुनिगण एव श्रीमंत लोग आखिर समाज, देश का किस प्रकार हित कर रहे है? अर्थात् धर्म के नाम पर सहज ठगी जाने वाली भोली समाज के साथ १२ अरबो के निर्माण कार्य मे धर्म बताकर कब तक छलते रहेगे? आज धनी वर्ग, त्यागी वर्ग दोनों ने मिलकर समाज को कुचक्र मे उलझा दिया है। जैन समाज का निम्न वर्ग, मध्यम वर्ग बुरी तरह पिस रहा है, पर धर्म के नाम पर इसमे वह आनन्द मान रहा है।"—

हम क्या कहे? गत दिनो किन्ही मुनि सरलसागरजी महाराज ने 'मुनि समीक्षा' 'आचार्य समीक्षा' जैसी पुस्तके लिखी थीं। महाव्रती सत्यमहाव्रती, झूठ के सर्वथा त्यागी होने चाहिए—उन्होने किन्ही के नाम उजागर किए

बिना, वर्तमान मुनियो का जो चरित्र खीचा था उससे ऐसा अवश्य सिद्ध हुआ कि ढोल मे पोल घुसी हुई है, ऐसी पोल में घुसे साधु ही साधु के साधुत्व, दिगम्बर के दिगम्बरत्व का ह्रास कर रहे हैं, जो सर्वथा चिन्ता का विषय है।

प्राचीन समय मे श्रीमन्तो, त्यागियों और पण्डितो के वर्ग ने निःस्पृह भाव से धर्मरक्षा और प्रभावना की थी उन्हीं के जातीय तिगड्डे ने आज जिनशासन के डुबाने का बीड़ा उठा रखा है। सेठ और पण्डित त्यागियो की मुट्ठी मे है और त्यागी इनसे बँधे है—'**परस्पर प्रशसन्ति अहो रूप महोध्वनि**'। मालूम होता है जैसे सेठो को मान प्रतिष्ठा, आशीर्वाद आदि की कामना ने घेर रखा हो या कही किन्हीं को श्राप का भय हो? यद्यपि आज के युग मे आशीर्वाद और श्राप दोनो व्यर्थ हो चुके है। अथवा ऐसा हो सकता है कि दोनो मे परस्पर कोई समझौता हो बैठा हो? महाराज कहते हो कि आप मेरा यशगान कराओ, मेरी जय—जयकार कराओ, मुझे हर प्रकार का सम्मान दिलाओ और मेरी मन—चीती व्यवस्थाएँ कराओ आदि। और धनिक कहते हो कि आप हमे मालाएँ पहिनवाओ, हमें ऊँची स्टेजो पर बिठवाओ, पब्लिक मे हमारा नाम ऊँचा कराओ आदि। हम आपके सेवक बने रहेगे।

तथाकथित विद्वान् भाइयो से हम क्या कहे? शायद वे भी '**माया महा ठगिनी हम जानी**' के चक्कर मे पडकर कर्तव्य भुला बैठे हैं—लक्ष्मी के दास बन गए है। वे लक्ष्मी के बल पर सपन्न होने वाले सेमीनारो और गोष्ठियो आदि मे मार्गव्यय और निर्धारित राशि लेने को दल—बल सहित इकट्ठे होते है। पैसो के लिए, धन—सपन्न विद्वान् तक पर्यूषण मे शास्त्रवाचन के लिए जाते है, इसी भाँति बहुत से पण्डित नामधारी पूजा—पाठ, विधान, प्रतिष्ठा और पचकल्याणक कराने को अपना धन्धा बना बैठे है—वे दक्षिणा मे हजारो—हजारो मुद्राओ के सचित करने मे लगे है। कई विद्वान् तो साधुओ के यहाँ चक्कर इसलिए लगाते है कि वे सेठो से पैसा दिलवा देगे या उनकी लिखित पुस्तको को छपवा देगे आदि। जबकि चाहिए ऐसा था कि—जो

विद्वान् सामाजिक धार्मिक संस्थाओं में समाज के बल पर खड़े हुए हैं, धर्म–ज्ञाता बने है, जिन्होने वर्षों की तपस्या कर जिनवाणी माता की उपासना की है, वे उन संस्थाओं, समाज और जिनवाणी की निस्वार्थ सेवा कर उस ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करते। पर, दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका। वे वर्तमान राजनेताओ की भाँति पाला बदलने में लगे है–फलत – धर्म ह्रास सन्मुख है।

जब हम साधुओ के नामो के पूर्व लिखे हुए **'कलिकाल सर्वज्ञ, गणधराचार्य, समय–प्रमुख** आदि जैसे विशेषण देखते है तब सोचते है कि क्या पूर्व के आचार्य आज के साधुओ के तुल्य नही थे? आम्नायमान्य आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी परम्परा मे हुए समन्तभद्र, अकलक, उमास्वामी प्रभृति आचार्य क्या इन विशेषणो के योग्य नही थे जो उन्हे उक्त विशेषणो से रिक्त रखा गया? हमारी दृष्टि मे तो वे नि:स्पृह थे, विशेषणो और प्रसिद्धि की लालसा–हीन थे। अत उन्होने अपने को उक्त विशेषणो से विरहित रक्खा। क्योंकि **अरहंतों के सिवाय कोई सर्वज्ञ नहीं होता, गणधर स्वय गणधर और समय–प्रमुख होते हैं कोई अन्य उक्त गुणों का धारक नहीं होता।**

प्रश्न यह भी उठता है कि भगवान के सहस्त्रनाम रूप विशेषण उनके गुणो के आधार पर होते हैं। क्या उक्त विशेषण भी ऐसे ही है? नही, कदापि नहीं। फिर यह भी तो प्रश्न अछूता रह जाता है कि इन विशेषणो का दाता कौन है? क्या, कोई ऐसा व्यक्ति जो उक्त विशेषणो से रहित हो, वह ऐसे विशेषणो को देने का अधिकार रखता है? यह सब विशेषण तो ऐसे ही लोगो द्वारा दिए हुए होते है, जो उक्त विशेषणो से रहित है।

इस प्रकार धर्मक्षेत्र मे सभी भाँति की विसगतिया घर किए बैठी है, जो ह्रास का प्रमुख कारण है और प्रमुख जनो द्वारा ढोई जा रही है–इनसे 'आप डुबन्ते पॉडे, ले डूबे जजमान' वाली कहावत चरितार्थ होती है, इसीलिए कहा है–'जब माझी नाव डुबाए।' स्मरण रहे कि हमारे मांझी लक्ष्मीपति, त्यागी और विद्वान ही है, जो हमारे धर्म की नाव को डुबो रहे है।